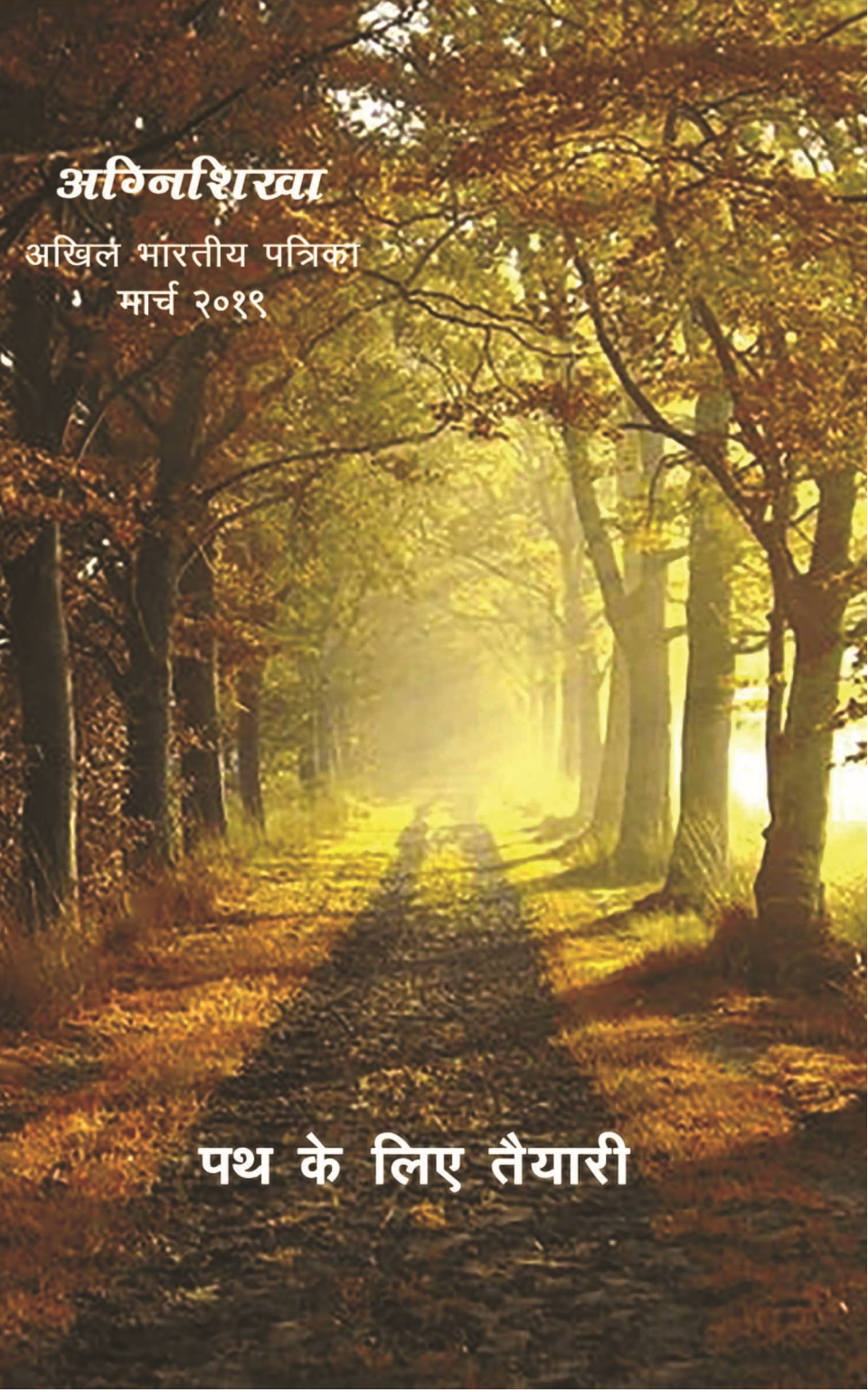

अग्निशिखा

अखिल भारतीय पत्रिका

मार्च २०१९

पथ के लिए तैयारी

विषय-सूची

(श्रीमाँ के वचन)

सन्देश/सम्पादकीय	३
पथ पर चिन्तन	५
आत्म-प्रभुत्व	२१
सचेतन बनना	२९

'पुरोधा'

दैनन्दिनी	५१
सारे शब्द गूँगे हो गये (संस्मरण) — वन्दना	५३
फ़ॉर्म ४	५८

अग्निशिखा

श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका

वार्षिक शुल्क : एक वर्ष—१८०रु.; तीन वर्ष—५२०रु.; पाँच वर्ष—८६०रु.

अधिष्ठाता : श्रीअरविन्द सोसायटी

मुद्रक : स्वाधीन चैटर्जी, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस

प्रकाशक : प्रदीप नारंग, श्रीअरविन्द सोसायटी

प्रकाशक स्थल : सोसायटी हाउस, ११ सैं मार्तैं स्ट्रीट, पुदुच्चेरी ६०५००१

मुद्रण-स्थल : श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, नं. ३८, गूबैर ऐवेन्यू, पुदुच्चेरी ६०५००१, भारत

सम्पादिका : वन्दना

Registered with the Registrar of Newspapers for India: No. 18135/70

दूरभाष संख्याएँ (०४१३) २३३६३९६-९७-९८

Email: info@aurosociety.org

Website: www. aurosociety.org

सन्देश

अगर हम अपने प्रयास में स्थिर-शान्त तथा अपने निश्चय में मज़बूत रहें तो निश्चय ही हम अपने लक्ष्य तक जा पहुँचेंगे। —श्रीमाँ

आदर्श पथ

प्रत्येक के लिए वह पथ जो उसे तीव्रतम गति से प्रभु तक पहुँचाता है।

(श्रीमाँ द्वारा दिया गया पुष्प का आध्यात्मिक अर्थ तथा व्याख्या)

वानस्पतिक नाम : Coffea

हिन्दी : कहवा

सम्पादकीय : योग की यात्रा लम्बी और श्रमसाध्य है। योग में आगे बढ़ने के लिए तैयारी करनी होती है और यह हमारे अन्दर कुछ ऐसे विशेष गुणों और मनोवृत्तियों को विकसित करने में सहायक होता है जिनकी योग-पथ पर अन्ततः बहुत आवश्यकता होती है। इस विचार के साथ हम श्रीमाँ की कुछ प्रारम्भिक रचनाओं पर एक दृष्टि डाल रहे हैं जो न केवल प्रेरणादायक हैं बल्कि पथ की तैयारी के लिए व्यावहारिक बातें भी सुझाती हैं।

धन्य है वह दिवस जब मैं तुझे जान पायी, हे अवर्णनीय शाश्वतता।

सब दिनों में वह दिन धन्य होगा जब अन्ततः पृथ्वी जाग कर तुझे जान पायेगी और केवल तेरे लिए ही जियेगी।

—श्रीमाँ

पथ पर चिन्तन

सेवक की विनम्र भूमिका

भला क्या मूल्य है हमारे आवेगों और हमारी कामनाओं का, हमारी वेदनाओं और उग्रताओं का, हमारे दुःखों और संघर्षों का, हमारे सभी गहरे आन्तरिक उतार-चढ़ावों का जिन्हें हमारी अव्यवस्थित कल्पना अतिरञ्जित नाटकीय रूप दे देती है? क्या मूल्य है इनका उस महान्, उदात्त और दिव्य प्रेम के सामने जो हमारी सत्ता की अन्तरतम गहराइयों से हमारे ऊपर झुका रहता है, हमारी दुर्बलताएँ सहन करता है, हमारी भूलें सुधारता है, हमारे घाव भरता है, हमारी सम्पूर्ण सत्ता को अपनी नवजीवनदायिनी धाराओं से सराबोर कर देता है? कारण, अन्तःस्थित भगवान् कभी दबाव नहीं डालते, न कोई दावा करते हैं और न भय दिखलाते हैं। वे तो निज का उत्सर्ग करते हैं, अपने-आपको दे देते हैं, वे सकल प्राणियों और सकल वस्तुओं के अन्दर छिपे हुए अपने-आपको भूले रहते हैं। वे कभी किसी को दोष नहीं देते, किसी के गुण-दोष का विवेचन नहीं करते, किसी को अभिशाप नहीं देते, किसी को दण्डित नहीं करते, बल्कि बिना दबाव डाले, बिना बुरा-भला कहे, निरन्तर सुधारने में, बिना धैर्य खोये उत्साह प्रदान करने में और प्रत्येक को उसकी ग्रहणशक्ति के अनुसार सभी सम्पदाओं से समृद्ध कर देने में लगे रहते हैं। भगवान् माँ हैं, उनका प्रेम जीवन देता है, पोषण करता है, देखभाल और रक्षा करता है, परामर्श और सान्त्वना देता है। माँ सब समझती हैं, अतः सबको सहारा देती हैं, किसी का दोष नहीं पकड़े रखतीं, सबको क्षमा करती हैं, सबके लिए आशा रखती हैं, सबको तैयार करती हैं। वे सब कुछ अपने अन्दर धारण किये हुए हैं, अतः उनके पास ऐसा कुछ नहीं जो सबका न हो। चूँकि वे सब पर राज्य करती हैं, अतः सबकी सेवक हैं; इसी कारण वे सब छोटे-बड़े, जो उनके साथ राजा और उनके अन्दर देवता बनना चाहते हैं, उन्हीं की भाँति अपने भाइयों के सेवक बनते हैं, स्वेच्छाचारी शासक नहीं।

कितनी सुन्दर है सेवक की यह विनम्र भूमिका! यह भूमिका है उन सबकी जो सबके अन्दर विराजमान भगवान् को, सब वस्तुओं को जीवन देने वाले भागवत प्रेम को प्रकट करते हैं, उनकी घोषणा करते हैं।...

उदीयमान सूर्य का पाठ

साहस रखो! उस पाठ को ध्यान से सुनो जो उदीयमान सूर्य हर सुबह अपनी प्रथम किरणों के साथ पृथ्वी के लिए लाता है। यह आशा का पाठ है, सान्त्वना का सन्देश है।

तुम, जो रोते हो, कष्ट पाते हो, भय से काँपते हो, तुम, जिनमें यह जानने का साहस नहीं कि तुम्हारे दुःखों की अवधि कितनी है, और तुम्हारे दुःख का क्या परिणाम है, देखो, ऐसी कोई रात नहीं जिसके बाद प्रभात न आये। जब अन्धकार सबसे घना होता है तभी उषा फूटने को तैयार रहती है; ऐसा कोई कुहासा नहीं जिसे सूर्य दूर न कर सके, ऐसी कोई बदली नहीं जिसे वह स्वर्णिम न कर दे, ऐसा कोई आँसू नहीं जिसे एक दिन वह सुखा न दे, ऐसा कोई तूफ़ान नहीं जिसके बाद उसका विजय-धनु चमक न उठे, ऐसा कोई हिम नहीं जिसे वह पिघला न दे, ऐसी कोई शीत-ऋतु नहीं जिसे वह रंगीन वसन्त में न बदल दे।

और इसी प्रकार तुम्हारे लिए भी ऐसी कोई विपत्ति नहीं जो प्रतिदान में अपने बराबर ऐश्वर्य न लाये, ऐसी कोई वेदना नहीं जो आनन्द में रूपान्तरित न हो सके, ऐसी कोई पराजय नहीं जो विजय में न बदल जाये, ऐसा कोई पतन नहीं जो उच्चतर उत्थान में परिणत न हो, ऐसी कोई निर्जनता नहीं जो जीवन का नीड़ न बने, ऐसी कोई असंगति नहीं जो संगति में न बदल सके। कभी-कभी दो मनों का मतभेद ही दो हृदयों को मिलने के लिए बाधित करता है। संक्षेप में, ऐसी असीम कोई दुर्बलता नहीं जो शक्ति में परिणत न हो सके। वरन् चरम दुर्बलता के अन्दर ही सर्वशक्तिमान् भगवान् प्रकट होना पसन्द करते हैं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड २, पृ. ४९-५०, ५०-५१

कृतज्ञता के साथ सुबह की एकाग्रता

हर सुबह जागते ही, अपना दिन शुरू करने से पहले, इस महान् परिवार का प्रेम, सराहना और कृतज्ञता के साथ अभिवादन कीजिये।[१] मानवजाति के ये रक्षक, जो हमेशा एक ही रूप में आते रहे हैं, आये हैं और काल के अन्त तक आते रहेंगे। ये अपने भाइयों के विनम्र और अद्‌भुत सेवकों

[१] पैरिस की एक सभा में माताजी बोल रही थीं।

के रूप में, उनके पथ-प्रदर्शक और शिक्षक बन कर आते हैं और आते रहेंगे ताकि उन्हें पूर्णता की सीधी चढ़ाई पर चढ़ने में सहायता दे सकें। इस तरह जब आप जागें तो अपने विश्वास और कृतज्ञता-भरे विचार को उन पर केन्द्रित करें। आपको शीघ्र ही इस एकाग्रता के लाभप्रद प्रभावों का अनुभव होगा। अपनी पुकार के उत्तर के फलस्वरूप आप उनकी उपस्थिति का अनुभव करेंगे; आपके चारों ओर, आपके अन्दर उनका प्रकाश और उनका प्रेम होगा। तब ज़रा ज़्यादा अच्छी तरह समझने, ज़रा ज़्यादा अच्छी तरह प्रेम करने, अधिक सेवा करने का आपका दैनिक प्रयास अधिक सरल और फलदायक हो उठेगा। आप दूसरों को जो सहायता देंगे वह ज़्यादा प्रभावशाली होगी और आपका हृदय निश्चल आनन्द से भर उठेगा।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड २, पृ. १३०-३१

सफलता और असफलता

जो लोग अपने अनित्य, समग्र जीवन से अधिक-से-अधिक फल पाना चाहते हैं उनके लिए वर्तमान क्षण की तुष्टि को अपने आदर्श की उपलब्धि के लिए त्यागने की विधि जानना बहुत बड़ी कला है। "सफल" लोगों की अनगिनत श्रेणियाँ हैं। उन श्रेणियों का निर्णय उनके आदर्श की कम या अधिक विशालता, उदात्तता, जटिलता, पवित्रता और प्रकाश के अनुसार होता है। कोई फटे-पुराने कपड़े बटोरने और बेचने में "सफल" हो सकता है तो कोई समस्त संसार का मालिक या फिर पूर्ण वैरागी होने में सफल हो सकता है। इन तीनों उदाहरणों में, यद्यपि ये एक-दूसरे से बहुत अलग-अलग स्तरों के हैं, व्यक्ति का न्यूनाधिक रूप में पूर्ण और विस्तृत आत्म-संयम ही "सफलता" को सम्भव बनाता है।

दूसरी ओर, "असफल" होने का बस एक ही मार्ग है और यह बड़े-से-बड़ों, सर्वश्रेष्ठ बुद्धिमानों के लिए तथा साथ ही छोटे-से-छोटे तथा अत्यन्त सीमित बुद्धिवालों के साथ, उन सबके साथ होता है जो वर्तमान के संवेदन को अपने अभिप्रेत लक्ष्य के अधीन नहीं कर सकते। वे लक्ष्य तो चाहते हैं, पर उसका मार्ग अपनाने का बल नहीं होता उनमें। उपलब्धि तक ले जाने वाला मार्ग अपने विस्तार और जटिलता में तो नहीं, पर प्रकृति में सबके लिए समान होता है।

एक छोर पर है वह व्यक्ति जिसने जो कुछ सोचा था वह सब पूरी तरह पा लिया और दूसरे पर है वह जो कुछ भी पाने में असमर्थ रहा। निस्सन्देह, इन दोनों के बीच असीम मध्यवर्ती श्रेणियाँ हैं। ये श्रेणियाँ बहुत जटिल हैं क्योंकि लक्ष्य की उपलब्धि में बहुत सारे दरजे ही नहीं हैं, बल्कि स्वयं लक्ष्य के विविध गुणों में भी भेद है। कुछ ऐसी महत्त्वाकांक्षाएँ हैं जो केवल निजी हितों, भौतिक, भावनागत या बौद्धिक हितों की खोज करती हैं। कुछ अन्य ऐसी हैं जिनके लक्ष्य अधिक व्यापक, अधिक सामुदायिक या ज़्यादा ऊँचे होते हैं। और फिर कुछ ऐसे लक्ष्य भी हैं जो, हम कह सकते हैं, मनुष्य से ऊपर के हैं, जो उन शिखरों पर चढ़ना चाहते हैं जो शाश्वत 'सत्य', शाश्वत 'चेतना' और शाश्वत 'शान्ति' की भव्यताओं में जा खुलते हैं। यह समझना तो आसान होगा कि व्यक्ति के प्रयास और त्याग उसके चुने हुए लक्ष्य की विशालता और उच्चता के अनुरूप होने चाहियें।

अत्यन्त सामान्य से लेकर सर्वथा लोकातीत तक, किसी भी स्तर पर, उस व्यक्ति को, जिसने कोई लक्ष्य चुना हो, कदाचित् ही आत्म-संयम और उपलब्ध यज्ञ-शक्ति के योगफल और हर प्रकार के त्याग के योगफल में पूर्ण सन्तुलन मिलता होगा।

जब किसी व्यक्ति की संरचना इस पूर्ण सन्तुलन को सम्भव बनाती है तो उसका पार्थिव जीवन अपना अधिक-से-अधिक परिणाम लाता है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड २, पृ. १३७-३८

हर चीज़ सबकी है। यह कहना या सोचना : "यह चीज़ मेरी है", एक ऐसा अलगाव पैदा करता है, एक ऐसा भेद लाता है जो वास्तविकता में नहीं है।

हर चीज़ सबकी है, यहाँ तक कि हम जिस द्रव्य से बने हैं वह भी सबका है। यह परमाणुओं का एक भँवर है जो हमेशा घूमता रहता है। वह किसी का हुए बिना क्षणिक रूप में आज के लिए हमारे संघटन को गठित करता है, कल वह कहीं और होगा।...

जो कहते हैं : "यह विचार मेरा है", और जो सोचते हैं कि वे औरों को उससे लाभ उठाने देते हैं, यह उनकी उदारता है—वे मूर्ख हैं।

विचारों का जगत् सबका है; बौद्धिक शक्ति वैश्व शक्ति है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड २, पृ. ११६-१७

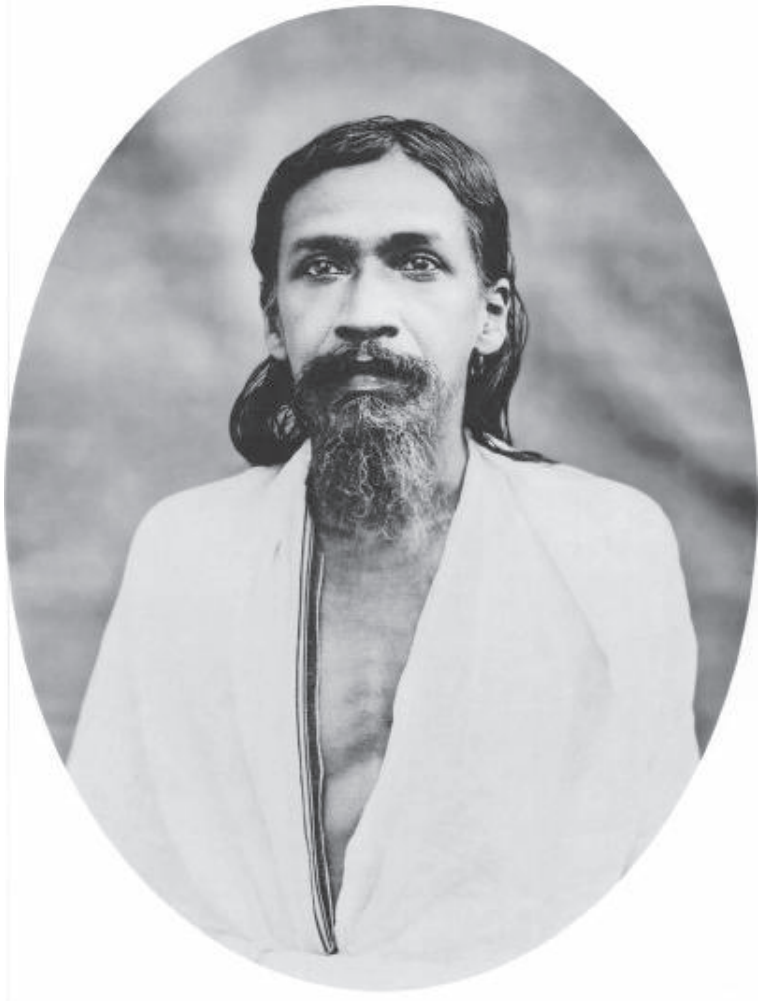

हम प्रणालियों की तरह हैं। उनमें जो कुछ आता है उसे अगर खुले रूप में बहने न दिया जाये तो न सिर्फ़ यह कि प्रणालियाँ बन्द हो जाती हैं और आगे से कुछ नहीं आता, बल्कि उनमें जो कुछ है वह भी सड़ जाता है। इसके विपरीत, अगर हम प्राणिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक बाढ़ को खुले तौर पर बहने दें, अपने-आपको महत्त्व न देते हुए, अपने छोटे-से व्यक्तित्व को महान् वैश्व धारा के साथ जोड़ सकें तो हम जो कुछ देंगे उससे सौ-गुना अधिक पायेंगे। —श्रीमाँ

यादें

हमें यादों से इतना स्नेह होता है क्योंकि वे सार्वभौमिक हैं। उनके अन्दर 'अनन्तता' के रस का कुछ अंश होता है।

जिसे दैनिक घटनाओं में बाहरी, अहंकारपूर्ण और सीमित संवेदनशीलता के द्वारा देखा गया है—उस संवेदनशीलता द्वारा, जो कष्ट पाती और ख़ुश होती है—वह भ्रान्ति के बादलों की तरह ग़ायब हो जाता है। लेकिन उस अज्ञान-भरे बोध के पीछे—प्रायः उससे ढका हुआ—एक और बोध होता है, वास्तविक अन्तरात्मा का बोध जो सभी चीज़ों के द्वारा उनकी वैश्व अन्तरात्मा के साथ नाता जोड़ता है और सभी के अन्दर उसके पूर्ण आनन्द का अनुभव करता है।

ये बोध हमारी सत्ता की गहराइयों में यादों के रूप में बने रहते हैं और जब उनमें से कोई एक स्मृति में उभरता है तो वह भागवत परमानन्द का सुनहरा चोला पहन कर आता है।

जिसे हम पहले अपने अज्ञानमय बोध में कष्ट और पीड़ा कहते थे वही सज-धज कर, रूपान्तरित और महिमान्वित होकर, भव्यता के उसी वेश से अलंकृत होकर फिर से आती है जिसे हम सुख और चैन कहते हैं। वास्तव में कभी-कभी पहली यादों की भव्यता, बाद की भव्यता से कहीं अधिक तीव्र और विशाल होती है। उनसे जो हर्ष मिलता है वह कहीं अधिक गहरा और शुद्ध होता है।

इस तरह, थोड़ा-थोड़ा करके हम चीज़ों की वास्तविकता और अपनी अन्धी इन्द्रियों की दी हुई झूठी व्याख्या में फ़र्क करना सीखते हैं।

इसीलिए यादें ऐसी मूल्यवान् शिक्षिकाएँ होती हैं। इसीलिए यादें हमें इतनी प्रिय होती हैं। उनके द्वारा हम शाश्वत के सम्पर्क में आते हैं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड २, पृ. १८८

भूतकाल की लहरों को अपने पास से बह कर दूर चले जाने दो, जो समस्त आसक्तियों और समस्त दुर्बलताओं को भी अपने साथ बहा ले जायें।

भागवत चेतना का आलोकमय आनन्द उनका स्थान लेने के लिए प्रतीक्षा कर रहा है।

—श्रीमाँ

दुःख झेलना जानो

यदि किसी समय तुम्हें कोई गभीर दुःख, दारुण संशय या तीव्र कष्ट अभिभूत और हताश कर रहा हो तो शान्ति और स्थिरता पुनः प्राप्त करने का एक अचूक साधन है।

हमारी सत्ता की गहराइयों में एक ज्योति चमक रही है जो जितनी चमकदार है उतनी ही पवित्र भी। वह ज्योति विश्वव्यापी भगवान् का सजीव और सचेतन अंश है, वह जड़-तत्त्व को जीवन, पोषण और प्रकाश प्रदान करती है। वह उन लोगों की सशक्त और अचूक पथप्रदर्शिका है जो भगवान् का विधान जानने-मानने की इच्छा रखते हैं। जो उन्हें देखने की, उनकी आवाज़ सुनने की, उनके आदेश का पालन करने की अभीप्सा रखते हैं, यह आश्वासन और प्रेम से परिपूर्ण उनकी सहायिका है। उनके प्रति की गयी कोई भी सच्ची और स्थायी अभीप्सा व्यर्थ नहीं जा सकती; उन पर किया गया कोई भी दृढ़ और आदरपूर्ण विश्वास निराश नहीं हो सकता; कोई भी आशा भंग नहीं हो सकती।...

कष्ट अनिवार्य नहीं है, वाञ्छनीय भी नहीं, पर जब वह आता है तो हमारे लिए कितना उपयोगी हो सकता है!

प्रत्येक बार जब दुःख के बोझ से हृदय टूटता प्रतीत होता है, तब अन्तर की गहराई में एक द्वार खुलता है और अधिकाधिक समृद्ध गुप्त रत्नराशि लिये नये-नये क्षितिज प्रकट होते हैं और उनकी स्वर्णिम आभा विनाश के कगार पर खड़े जीवन को एक नवीन और अधिक प्रखर जीवन प्रदान करती हुई आती है।

और जब, उत्तरोत्तर अवतरणों से होता हुआ मनुष्य उस यवनिका तक पहुँचता है जिसके उठते ही साक्षात् 'तू' प्रकट होता है, तब, 'हे प्रभु', कौन वर्णन कर सकता है 'जीवन' की उस प्रखरता का जो समस्त सत्ता के अन्दर पैठ जाती है, 'ज्योति' की उस शोभा का जो उसे परिप्लावित कर देती है, 'प्रेम' की उस महिमा का जो चिरकाल के लिए उसका रूपान्तर कर देती है! —'श्रीमातृवाणी', खण्ड २, पृ. २३-२४

चिरजीवी स्मरण: उसका स्मरण जिसने सत्ता को प्रगति करने में सहायता दी हो। —श्रीमाँ

अग्नि-परीक्षाओं या त्रुटियों के सम्मुख

यदि अग्नि-परीक्षाओं या त्रुटियों ने तुम्हें पछाड़ दिया है, यदि तुम दुःख के अथाह गर्त में डूब गये हो तो ज़रा भी शोक न करो, क्योंकि वस्तुतः वहीं पर तुम्हें मिलेगा भगवान् का स्नेह, उनका परम आशीष! क्योंकि तुम पावनकारी दुःखों की अग्नि में तप चुके हो, इसलिए अब तुम्हें गौरवमय शिखर मिलेंगे।

तुम बंजर बीहड़ में हो: तो सुनो नीरवता की वाणी। बाहर की स्तुति और प्रशंसा का कलरव ही तुम्हारे कानों को सुख देता रहा है; अब नीरवता की वाणी तुम्हारी आत्मा को सुख देगी, तुम्हारे अन्दर जाग्रत् करेगी गहराइयों की प्रतिध्वनि, दिव्य स्वर-संगतियों का नाद!

तुम गहन रात्रि में चल रहे हो: तो रात्रि की अमूल्य सम्पदा संग्रह करते चलो। सूर्य का उज्ज्वल प्रकाश बुद्धि के मार्ग आलोकित कर देता है, किन्तु रात्रि की श्वेत प्रभा में पूर्णता के गुप्त पथ दृष्टिगोचर होते हैं, आध्यात्मिक सम्पदाओं का रहस्य खुलता है।

तुम नग्नता और अभाव के मार्ग पर हो: यह प्रचुरता का मार्ग है। जब तुम्हारे पास कुछ न बचेगा तो तुम्हें सब कुछ दिया जायेगा। क्योंकि जो सच्चे और सीधे हैं उनके लिए बुरे-से-बुरे में से सदा भले-से-भला निकल आता है।

ज़मीन में बोया हुआ एक दाना हज़ारों दाने पैदा करता है। दुःख के पंखों का प्रत्येक स्पन्दन गौरव की ओर ले जाने वाली उड़ान बन सकता है।

और जब शत्रु मनुष्य पर क्रुद्ध हो टूट पड़ता है, तो वह उसके नाश के लिए जो कुछ करता है, वही उसे महान् बनाता है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड २, पृ. ५२

जो हमें अपने पथ पर मिलते हैं

जीवन हमेशा हमारे रास्ते में, एक या दूसरे रूप में, ऐसे व्यक्ति प्रस्तुत करता है जो किसी-न-किसी कारण हमारे निकट होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति, जैसा वह स्वयं होता है, उसी के अनुसार अपना वातावरण बना लेता है।

और यदि यही हमारी प्रधान कर्म-प्रवृत्ति हो तो वे सभी व्यक्ति, जिनसे हम जीवन-पथ पर मिलते हैं, ठीक वे होते हैं जिनके लिए हम अधिकतम

उपयोगी हो सकते हैं।

जो निरन्तर आध्यात्मिक चेतना में निवास करता है उसके लिए उसके साथ घटने वाली सभी घटनाओं का एक विशेष अर्थ होता है और वे सब उसके उत्तरोत्तर विकास-क्रम में हमेशा सहायक होती हैं। ऐसा व्यक्ति अपने सभी सम्पर्कों का उपयोगी अवलोकन कर सकता है, उनके ऊपरी और गहन कारणों का अध्ययन कर सकता है और अपनी उपकार-भावना से प्रेरित होकर वह यह जानना चाहेगा कि इन विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों में से प्रत्येक का वह क्या हित कर सकता है। आध्यात्मिकता का जितना अंश उसके अपने अन्दर होगा उसी के अनुपात में उसका कार्य भी आध्यात्मिक प्रभाव डालने की शक्ति से युक्त होगा, यह प्रभाव कम या अधिक हो सकता है, पर होगा अवश्य।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड २, पृ. ८०

सम्बन्धों के पीछे का सच

हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि दो मानव जीवनों का सम्पर्क कितना स्थायी होगा यह इस बात पर निर्भर करता है कि उनको जोड़ने वाले आकर्षण सत्ता के कितने स्तरों पर हैं और उन स्तरों पर कितनी गहराई तक क्रियाशील हैं।

केवल वे ही आपस में सदा के लिए संयुक्त हो सकते हैं जो अपने तथा समस्त वस्तुओं के शाश्वत तत्त्व में मिलते हैं, सायुज्य स्थापित करते हैं।

चिर मित्र वे ही हैं जो सदा मित्र रहते हैं, चाहे दूर हों, चाहे पास, चाहे इस जगत् में हों, चाहे अन्य जगतों में।

और ऐसे मित्रों के साथ हमारा मिलना किसी ऐसे पूर्व-मिलन पर निर्भर करता है जो हमारी सत्ता की अजानी गहराई में हुआ होगा।

इसके अतिरिक्त, जब कभी ऐसा मिलन होता है तो हमारा समस्त मनोभाव बदल जाता है।

जब हम अन्तःस्थित भगवान् के साथ एक हो जाते हैं तो सभी चीज़ों के साथ उनकी गहराई में एक हो जाते हैं। वास्तव में, सबके साथ हमारा सम्बन्ध भगवान् में और भगवान् के द्वारा ही होना चाहिये। तब, न आकर्षण रहता है, न विकर्षण, न अनुराग, न विराग। जो भगवान् के निकट है,

उसके हम निकट होते हैं, और जो उनसे दूर है, उससे दूर।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड २, पृ. ८२-८३

मदद करने के तरीक़े और उपहार

अपवादों को छोड़ कर, अपने कुटुम्बी-जनों के लिए तथा उनके लिए जिनसे हम गाड़ी, जहाज़ या ट्राम आदि में मिलते हैं, यह भौतिक सहायता ही सर्वोत्तम सहायता होती है और इसका रूप होता है आर्थिक सहायता, बीमारी या संकट के समय सहायता।

जो लोग कलात्मक या अन्य रुचियों के सादृश्य के कारण हमारी ओर आकर्षित हुए हैं हमें उनकी संवेदनशील सत्ता की सहायता करनी चाहिये। यह हम उनकी संवेदक शक्तियों को उचित, सन्तुलित करके या उसको सम्यक् दिशा दिखा कर कर सकते हैं।

जिनके साथ हमारा सम्पर्क प्रगति की अभीप्सा के सादृश्य के कारण हुआ है उनकी सहायता हम अपने उदाहरण द्वारा उन्हें मार्ग दिखा कर, अपने प्रेम के द्वारा उनके मार्ग की कठोरता को कम करके कर सकते हैं।

अन्त में, जो लोग हमारे निकट मानसिक आकर्षणों को लेकर आते हैं उनके प्रति हमारा कर्तव्य यह है कि हम उनकी बुद्धि के प्रकाश को तेज़ करें, यदि सम्भव हो तो उनके विचार-क्षेत्र को विस्तृत और उनके आदर्श को आलोकित करें।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड २, पृ. ८१-८२

उदारता के प्रकार

जो कम जानते हैं उन्हें शिक्षा देना, जो बुराई करते हैं उन्हें ऐसी शक्ति देना कि वे अपनी भ्रान्ति में से निकल सकें, जो दुःखी हैं उन्हें सान्त्वना देना—ये सब सही अर्थों में समझी गयी उदारता के कार्य हैं।

इस भाँति, व्यक्तिगत दृष्टि से, हर एक के लिए अपने साधनों के अनुपात में दूसरों को वह चीज़ देना ही उदारता है जिसकी उन्हें ज़रूरत हो।

इससे हम दो बातों पर आते हैं।

पहली यह कि तुम वह चीज़ नहीं दे सकते जो तुम्हारे अधिकार में न हो।

भौतिक दृष्टि से यह बात इतनी स्पष्ट है कि इस पर ज़ोर देने की

ज़रूरत नहीं। परन्तु बौद्धिक और आध्यात्मिक दृष्टि से भी यही नियम खरा उतरता है।

वास्तव में जो तुम स्वयं नहीं जानते उसे औरों को कैसे सिखा सकते हो? अगर तुम अपने-आप उस राह पर नहीं चलते तो दुर्बलों को बुद्धिमत्ता का मार्ग कैसे दिखा सकते हो? अगर स्वयं तुम्हारे अन्दर प्रेम नहीं है तो तुम प्रेम को फैला कैसे सकते हो?

और परम उदारता है पार्थिव पुनर्निर्माण के महान् कार्य में समग्र रूप से आत्मदान। इसमें यह ज़रूरी है कि पहले तुम जो देना चाहते हो वह पूरी तरह से तुम्हारे अधिकार में तो हो। इसका मतलब यह हुआ कि व्यक्ति को अपने ऊपर पूरा अधिकार हो।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड २, पृ. ११३-१४

सच्ची उदारता

इस कहावत को समझने का एक ग़लत तरीक़ा भी है जो कहता है: "पहले हम अपने लिए सम्पदा, बुद्धि, स्वास्थ्य, प्रेम, सब प्रकार की ऊर्जाएँ इकट्ठी कर लें, तब उन्हें बाँटेंगे।"

लेकिन, भौतिक दृष्टिकोण से संग्रह करना कब बन्द होगा? जिसे ढेर इकट्ठा करने की आदत हो जाये उसे अपना ढेर कभी पर्याप्त बड़ा नहीं लगता।

मैंने इस बारे में यहाँ तक कहा है कि अधिकतर लोगों में उदारता उनके आर्थिक साधनों से उलटे अनुपात में पायी जाती है।

मज़दूरों, ज़रूरतमन्दों और अभागे लोगों के आपसी व्यवहार को देख कर मैं इस निष्कर्ष पर पहुँची हूँ कि ग़रीब लोग ज़्यादा उदार होते हैं। वे भाग्य के लाड़लों की अपेक्षा कष्ट पाने वाले अपने साथियों की सहायता करने के लिए ज़्यादा तैयार होते हैं। मैंने जो कुछ देखा है उसके विस्तार में जाने के लिए हमारे पास काफ़ी समय नहीं है, लेकिन मैं विश्वास दिलाती हूँ कि वह काफ़ी शिक्षाप्रद है। बहरहाल, मैं यह विश्वास दिला सकती हूँ कि ग़रीब जैसे देते हैं, यदि अमीर भी अपनी सम्पत्ति के अनुपात में वैसे ही दें तो सारी दुनिया में कोई भी भूखा न रह जायेगा।

अतः, ऐसा लगता है कि सोना सोने को आकर्षित करता है और बाँटने

से पहले धन-दौलत इकट्ठा करने की इच्छा से बढ़ कर घातक और कुछ नहीं है। लेकिन साथ ही, बिना समझे-बूझे, विवेक के अभाव में खुले हाथों लुटाने से बढ़ कर घातक भी कुछ नहीं है। इससे किसी को कोई लाभ पहुँचाये बिना बहुत बड़ी सम्पदा यूँ ही व्यर्थ में उड़ सकती है।

हमें निष्काम वृत्ति को, जो सच्ची उदारता की आवश्यक शर्तों में से एक है, और लापरवाही को, जो प्रमादपूर्ण विचारहीनता से आती है, आपस में कभी नहीं मिलाना चाहिये।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड २, पृ. ११४-१५

उदार होने का सही तरीक़ा

भौतिक सम्पत्ति के त्रुटिपूर्ण वितरण से, कुछ को प्रयास के द्वारा प्रगति करने के लिए प्रेरित करने की जगह, उनके आलस्य को प्रश्रय देकर, उनके पतन को जल्दी लाया जा सकता है।

बुद्धि और प्रेम के लिए भी यही बात लागू होती है। किसी को ऐसा ज्ञान देना जो उसके बस का न हो, ऐसे विचार देना जिन्हें वह पचा न सके, अगर हमेशा के लिए नहीं, तो लम्बे समय के लिए उसे अपने-आप विचार करने की सम्भावना से वञ्चित कर देना है।

यह ऐसा ही है जैसे कुछ लोगों पर स्नेह आरोपित करना, एक ऐसा प्रेम देना जिसकी वे आवश्यकता अनुभव नहीं करते, उनके ऊपर एक ऐसा भार लाद देना है जो बहुधा उनके कन्धों के लिए बहुत ज़्यादा होता है।

इस भूल के दो मुख्य कारण हैं, बाक़ी सब इन्हीं दोनों के साथ जोड़े जा सकते हैं : अज्ञान और अहंकार।

यह निश्चित रूप से जानने के लिए कि कोई क्रिया लाभदायक है या नहीं, तुम्हें उसके तात्कालिक या बाद में आने वाले परिणामों के बारे में जानना चाहिये। उदारता की क्रिया इस नियम में अपवाद नहीं है।

भला करने की इच्छा करना काफ़ी नहीं है, तुम्हें जानना भी चाहिये।

अपने सच्चे अर्थों से भ्रष्ट और परिणाम में पूरी तरह विकृत उदारता के नाम पर संसार में कितना अशुभ हुआ है!

मैं तुम्हें ऐसे बहुत-से उदाहरण दे सकती हूँ जिनमें उदारता के काम अत्यन्त संकटपूर्ण परिणाम ले आये, क्योंकि उन्हें बिना सोचे-विचारे, बिना

विवेक के, बिना समझे और बिना स्पष्ट दृष्टि के किया गया था।

सभी चीज़ों की तरह उदारता भी हमारे सचेतन और विवेकपूर्ण संकल्प का परिणाम होनी चाहिये, क्योंकि आवेग भ्रान्ति का, और सबसे बढ़ कर अहंकार का पर्याय है।

दुर्भाग्यवश, हमें यह स्वीकार करना चाहिये कि बहुत ही विरल उदाहरणों में उदारता पूर्णतः निःस्वार्थ होती है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड २, पृ. ११७-१८

प्रसन्न हृदय, प्रशान्त आत्मा से उठती उदारता

हर चीज़ का सम्बन्ध अपने साथ जोड़ने की आदत से हम जितना ऊपर उठेंगे उतना ही सचमुच प्रभावशाली उदारता को अपनी क्रियाओं में ला सकेंगे और यह उदारता प्रेम के साथ एक है।

इसके अतिरिक्त, एक ऊँचाई है जहाँ सभी सद्‌गुण मिल कर एक हो जाते हैं : प्रेम, भलाई, करुणा, क्षमा, उदारता अपने सार-तत्त्व में एक और अभिन्न हैं।

इस दृष्टि से माना जा सकता है कि उदारता प्रेम के सद्‌गुणों द्वारा निश्चित, व्यावहारिक, साकार बाह्य क्रिया है।

क्योंकि एक शक्ति है जो हमेशा सबको बाँटी जा सकती है बशर्ते कि वह एकदम निर्वैयक्तिक रूप में बाँटी जाये। यह है प्रेम, प्रेम जिसमें प्रकाश और जीवन समाये हुए हैं, अर्थात्, जिसमें समझदारी, स्वास्थ्य और खिलने की सभी सम्भावनाएँ हैं।

हाँ, एक उत्कृष्ट उदारता है जो प्रसन्न हृदय और प्रशान्त आत्मा से उठती है।

जिसने आन्तरिक शान्ति पा ली है वह जहाँ कहीं भी जाये, मोक्ष का अग्रदूत, आशा और आनन्द का वाहक होता है। क्या यही वह चीज़ नहीं है जिसकी बेचारी कष्ट में पड़ी हुई मानवजाति को सबसे अधिक आवश्यकता है?

हाँ, कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनके विचार प्रेममय होते हैं, जो प्रेम को विकीरित करते, फैलाते हैं। ऐसे लोगों की उपस्थिति-मात्र ही सबसे अधिक सक्रिय और वास्तविक उदारता है।

यद्यपि वे कोई शब्द नहीं बोलते, कोई इशारा नहीं करते, लेकिन फिर भी बीमार अच्छे हो जाते हैं, पीड़ितों को शान्ति मिलती है, अज्ञानियों को बोध मिलता है, दुष्टों को शान्त कर दिया जाता है, कष्ट सहने वालों को सान्त्वना मिलती है और सभी के अन्दर एक गहरा परिवर्तन आ जाता है जो उनके लिए नये क्षितिज खोल देता है, उन्हें एक क़दम आगे बढ़ने-योग्य बनाता है और निस्सन्देह यह क़दम प्रगति के अनन्त पथ पर निर्णायक होगा।

ये लोग, जो प्रेम के कारण अपने-आपको सबको दे देते हैं, जो सबके सेवक बन जाते हैं, ये परम 'उदारता' के जीते-जागते प्रतीक हैं।

सतत शुभेच्छा

दूसरों के साथ रहते हुए तुम्हें हमेशा एक दिव्य उदाहरण होना चाहिये। तुम्हें एक ऐसा अवसर बनना चाहिये जो उन्हें भागवत जीवन को समझने और उसके मार्ग पर चलने के लिए दिया गया है। इससे बढ़ कर कुछ नहीं; तुम्हारे अन्दर यह चाह भी नहीं होनी चाहिये कि वे प्रगति करें, क्योंकि यह भी तुम्हारी मनमानी ही होगी।

जब तक तुम निर्णायक रूप से अन्दर के दिव्यत्व के साथ एक नहीं हो जाते तब तक बाहर के साथ सम्बन्धों के बारे में सबसे अच्छा तरीक़ा यह है कि जिन्हें इस एकता का अनुभव है उनकी एकमत से दी हुई सलाह के अनुसार चलो।

हमेशा सतत शुभेच्छा की स्थिति में रहना—इसे अपना नियम बना लो कि किसी चीज़ से परेशान नहीं होना और किसी की परेशानी का कारण नहीं बनना और, जहाँ तक हो सके, किसी को कष्ट नहीं पहुँचाना।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड २, पृ. ११९-२०, १२१

मानसिक सम्पर्क

किसी के बारे में सोचना उसके पास होना है। दो व्यक्ति चाहे कहीं भी क्यों न हों, चाहे वे भौतिक दृष्टि से एक-दूसरे से हज़ारों किलोमीटर दूर क्यों न हों, अगर वे एक-दूसरे के बारे में सोचते हैं तो वे बहुत वास्तविक रूप में साथ होते हैं। अगर हम अपने विचार को काफ़ी एकाग्र कर सकें और अपने-आप पर्याप्त रूप में उस विचार पर एकाग्र हो सकें तो हम जिसके बारे में सोच रहे हैं उसके बारे में समग्र रूप से सचेतन हो सकते

हैं, और यदि वह मनुष्य है तो कभी-कभी उसे देख और सुन भी सकते हैं—हर हालत में, उसके विचार तो जान ही सकते हैं।

इस तरह अलगाव नहीं रहता, यह एक भ्रान्तिपूर्ण आभास है और, चाहे फ़्रांस में हो या अमरीका में, ईरान या चीन में, हम जिससे प्रेम करते हैं, जिसके बारे में सोचते हैं, हमेशा उसके पास रहते हैं।

लेकिन यह तथ्य हमारे जैसे मामले में और भी ज़्यादा वास्तविक हो उठता है जहाँ हम एक विशेष रूप से सक्रिय, सचेतन विचार के साथ सम्पर्क में आना चाहते हैं, एक ऐसे विचार के साथ जो अनन्त प्रेम का रूप ले लेता और उसे प्रकट करता है, एक ऐसा विचार जो प्रेम-भरी, पिता-तुल्य सहायता करने की उत्कण्ठा में सारी धरती को अपने में समो लेता है और जो अपने-आपको उसके सुपुर्द कर देते हैं उनकी सहायता करने में जिसे हमेशा प्रसन्नता होती है। इस मानसिक सम्पर्क का अनुभव कीजिये[१] और आप देखेंगे कि दुःख के लिए कोई स्थान नहीं है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड २, पृ. १३०

हमारे अन्दर कृपा में विश्वास की कमी है

मेरे ख़याल से, वास्तव में हमारे दोष भी प्रायः हमें बहुत आकर्षक प्रतीत होते हैं और अपनी सब कमज़ोरियों को हम उचित ठहराते हैं। परन्तु सच तो यह है कि आत्म-विश्वास की कमी से हम ऐसा करते हैं। क्या आपको इससे आश्चर्य होता है?... हाँ, मैं फिर कहती हूँ कि अपने अन्दर आत्म-विश्वास की कमी से हम ऐसा करते हैं। यह कमी उसमें नहीं है जो हम इस क्षण हैं और न ही यह हमारी बाह्य सत्ता में है जो क्षणिक और सदा परिवर्तनशील है—यह तो हमें सदा लुभावनी लगती है—बल्कि हमारे अन्दर उस चीज़ के लिए विश्वास की कमी है जो हम प्रयास से बन सकते हैं, हमें उस पूर्ण तथा गहन रूपान्तर में विश्वास नहीं है जो हमारी आत्मा का, उस अमर अविनाशी भगवान् का कार्य होगा जो सब जीवों में निवास करता है। और यह कार्य तभी होगा जब हम अपने-आपको बालक की भाँति उनके अनन्त ज्योतिर्मय और दूरदर्शी पथ-प्रदर्शन पर छोड़ देंगे।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड २, पृ. २७-२८

[१] पैरिस की एक सभा में माताजी बोल रही थीं।

प्रचार करने-योग्य सबसे उपयोगी विचार

व्यापक दृष्टि से विचार करने पर मुझे ऐसा लगता है कि प्रचार करने-योग्य सबसे उपयोगी विचार दोहरा है :

(१) मनुष्य स्वयं अपने अन्दर ही पूर्ण शक्ति, पूर्ण विवेक और पूर्ण ज्ञान को वहन करता है और वह यदि उन पर अपना अधिकार प्राप्त करना चाहे तो उसे अन्तर्निरीक्षण तथा चित्त की एकाग्रता के द्वारा उन्हें अपनी सत्ता की गहराई में खोजना चाहिये।

(२) ये सभी दिव्य गुण सभी प्राणियों के केन्द्रस्थल में, हृदय में एक समान पाये जाते हैं और वहीं से आती है सबकी मौलिक एकता और उसके फलस्वरूप पारस्परिक सम्बन्ध तथा भ्रातृत्व।

प्रस्तुत करने-योग्य सर्वोत्तम उदाहरण होगा, शुद्ध प्रशान्ति और अपरिवर्तनीय शान्ति से पूर्ण आनन्द का उदाहरण। ये चीज़ें उस मनुष्य के स्वाभाविक गुण बन जाती हैं जो सम्पूर्ण रूप से इस विचार के अनुसार जीवन-यापन करना जानता है कि सबके अन्दर एक ही भगवान् विराजमान हैं। —'श्रीमातृवाणी', खण्ड २, पृ. ७८

आत्म-प्रभुत्व

अपने निज के समन्वय को पाना

जब आप विधिबद्ध और बार-बार के प्रयास द्वारा अपने असम्बद्ध और दुःखदायी विचारों के इस प्रवाह से अलग हट कर उसको साक्षी-रूप में देख सकने में सफल हो जायेंगी[१], तब आपको एक नयी वस्तु दिखायी देगी।

आप देखेंगी कि आपके अन्दर कुछ विचार ऐसे हैं जो औरों से अधिक प्रबल, अधिक स्थायी हैं—ऐसे विचार जिनका सम्बन्ध सामाजिक रूढ़ियों, प्रचलित रीतियों, नैतिक नियमों, यहाँ तक कि मनुष्य तथा संसार पर लागू साधारण नियमों से है। ये विचार ही इन विषयों पर आपकी सम्मतियाँ हैं, कम-से-कम आप ऐसा ही दम भरती हैं और इन्हीं के अनुसार काम करने की चेष्टा भी करती हैं।

इनमें से आप एक विचार को ले लीजिये जो आपके सबसे अधिक निकट है। इसका आप ध्यानपूर्वक, पूरी सच्चाई के साथ निरीक्षण कीजिये, यथासम्भव सब पक्षपात से परे हटा कर। अब अपने-आपसे प्रश्न कीजिये कि इस विषय में आपका यही मत क्यों है, दूसरा क्यों नहीं।

इसका उत्तर लगभग सभी अवस्थाओं में यही या इससे मिलता-जुलता होगा : क्योंकि आपके समाज में यही विचार प्रचलित है, आपका भी इसे ऐसे ही अपनाना उचित है और इससे आप कई प्रकार के संघर्षों, मनमुटावों और अप्रिय आलोचनाओं से बच जाती हैं।

या फिर यह कि यही विचार आपके माता-पिता का भी था और इसी के वातावरण में आपका बचपन बीता है। या फिर यह भी हो सकता है कि यह आपकी उस धार्मिक या दूसरी प्रकार की शिक्षा का सामान्य फल है जो आपको तरुणावस्था में मिली है। यह विचार आपका अपना तो नहीं है।

आपका अपना विचार होने के लिए इसे आपके बौद्धिक समन्वय का अंग होना चाहिये जो आपके अपने जीवनकाल में ही यत्नपूर्वक निर्मित हुआ हो, चाहे वह निरीक्षण, परीक्षण, अनुभव या तर्क द्वारा रचा गया हो या फिर वह गहन, गभीर चिन्तन या मनन का फल हो।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड २, पृ. २८-२९

[१] एक गोष्ठी में श्रीमाँ स्त्रियों से सम्भाषण कर रही हैं।

मन को क्रमबद्ध करना

तरीक़ा वही होगा : सोचिये, सोचिये और ख़ूब सोचिये।

इन विचारों में से हमें एक-एक को लेकर बारी-बारी से उसका विश्लेषण करना चाहिये। ऐसा करते समय यह आवश्यक है कि हम अपने समस्त विवेक, अपनी समस्त तर्कबुद्धि और समदृष्टि की अपनी उच्चतम भावना की सहायता लें। विचारों को हमें अपने अर्जित ज्ञान और सञ्चित अनुभव के तराज़ू पर तोलना चाहिये। इसके बाद हमारा प्रयत्न यह होगा कि हम इनमें अनुकूलता लाकर परस्पर सामञ्जस्य स्थापित कर दें। पर यह कार्य बहुधा होता बड़ा कठिन है। क्योंकि हमारे अन्दर की एक शोचनीय प्रवृत्ति के फलस्वरूप हमारे मस्तिष्क में कई प्रकार के अत्यन्त परस्पर-विरोधी विचार भी साथ-साथ रहते हैं।

हमें इन सबको क्रमानुसार अपने स्थान पर रखना होगा, अपने आन्तरिक कक्ष में व्यवस्था स्थापित करनी होगी, और यह सफ़ाई हमें प्रतिदिन उसी प्रकार करनी चाहिये जिस प्रकार हम अपने रहने के कमरे की करते हैं, क्योंकि मेरे ख़याल से अपने मन की ओर भी हमें उतना ही ध्यान देने की आवश्यकता है जितना कि हम अपने घर की ओर देते हैं।

लेकिन, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इस काम को यथार्थ रूप में सफल बनाने के लिए आवश्यक है कि हम अपने अन्दर अपनी उच्चतम शान्ति, उच्चतम अचञ्चलता और मन की अधिक-से-अधिक सच्ची अवस्था स्थापित करने का निरन्तर प्रयास करें ताकि यह अवस्था सदा के लिए हमारी अपनी हो जाये।

हम इतने निर्मल हो जायें कि जिन विचारों का हमें निरीक्षण, विश्लेषण तथा वर्गीकरण करना है उनको हमारे अन्दर की ज्योति पूरी तरह से प्रदीप्त कर दे। अपनी छोटी-छोटी इच्छाओं तथा व्यक्तिगत सुविधाओं का त्याग करने के लिए हम निष्पक्ष और साहसी बनें। सर्वथा पक्षपातरहित होकर हम उन विचारों का उनके असली रूप में, उनके अपने लिए अवलोकन करें।

यदि हम अपने इस वर्गीकरण के कार्य में धीरतापूर्वक लगी रहें तो हम देखेंगी कि हमारे मस्तिष्क में धीरे-धीरे व्यवस्था और प्रकाश का साम्राज्य स्थापित होता जा रहा है, पर हमें यह कभी नहीं भूल जाना चाहिये कि यह व्यवस्था उस व्यवस्था के सामने विशृंखलता ही है जो भविष्य में हमें प्राप्त

करनी है, कि यह प्रकाश उस प्रकाश के सामने, जो हमें कुछ समय बाद प्राप्त होगा, केवल अन्धकार है।

जीवन एक अनवरत क्रमविकास है। यदि हम अपनी मनोवस्था को सजीव रखना चाहती हैं तो हमें बिना रुके, उन्नति के पथ पर बढ़ते चले जाना चाहिये।

वैसे है यह कार्य अपने-आपमें अभी प्रारम्भिक ही। हम अभी उस सत्य-विचार से बहुत दूर हैं जो ज्ञान के अपरिमित स्रोत के साथ हमारा सम्बन्ध स्थापित करता है।

ये सब तो हमें अपने विचारों पर विशेष व्यक्तिगत रूप से नियन्त्रण रखना सिखाने के लिए अभ्यासमात्र हैं, क्योंकि जो मनुष्य ध्यान या चिन्तन करना चाहते हैं उनके लिए अपनी मानसिक क्रिया को वश में रखना अत्यन्त आवश्यक है।

सत्य के पथ पर अग्रसर

पूर्ण सत्य असीम उन्नति के पथ पर चलते हुए जगत् के विकासशील ज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है—ऐसे सत्य की खोज के लिए जो व्यक्ति सच्चे भाव से प्रयत्न करता है, उसके अधिकाधिक निकट पहुँचने के लिए आवश्यकता पड़ने पर उस सबका त्याग करने को प्रस्तुत रहता है जिसको अब तक वह सत्य मानता आया है, वही धीरे-धीरे गहनतम, पूर्णतम तथा अनन्त प्रकाशमय विचार-समूहों के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित कर सकता है।

ध्यान और चिन्तन की सहायता से जब वह सच्ची बौद्धिक शक्ति की महान् संसारव्यापी लहर के सीधे सम्पर्क में आ जाता है तब कोई ज्ञान उससे छुपा नहीं रहता।

उस क्षण से अविचलता के साथ-साथ मानसिक शान्ति भी उसके हिस्से आ जाती है। अपनी सभी धारणाओं, समस्त मानवीय ज्ञान और धार्मिक शिक्षाओं के बीच में से भी, जो कभी-कभी आपस में कितने विरोधी प्रतीत होते हैं, वह उस गूढ़ सत्य को देख लेता है जिसको तब कोई शक्ति उसकी दृष्टि से ओझल नहीं रख सकती।

भूलें और अज्ञानवश किये गये कार्य भी उसको तब क्षुब्ध नहीं करते,

जैसा कि एक महापुरुष ने कहा है :

"जो सत्य के पथ पर बढ़ रहा है उसको कोई भूल कष्ट नहीं पहुँचा सकती, क्योंकि वह जानता है कि यह भूल सत्य-पथ पर अग्रसर होने वाले जीवन की प्रारम्भिक चेष्टा है।"

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड २, पृ. २९-३१, ३२-३३

विचारों पर स्वामित्व

अपने विचारों का स्वामी कैसे बना जाये?

पहली शर्त : इस स्वामित्व का पूरा महत्त्व समझने के लिए हम अपने अवलोकन के द्वारा खोज करके यह जानें कि हमारी क्रियाएँ हमारे विचारों की ठीक-ठीक अभिव्यक्ति होती हैं और जब तक हमें अपनी मानसिक क्रियाओं पर पूरा-पूरा अधिकार न हो तब तक ये विचार सब प्रकार के बाहरी प्रभावों (संवेदनों और सुझावों) के प्रतिबिम्ब या प्रतिक्रिया-रूप ही होते हैं। इस तरह हमारा स्वयं पर अधिकार नहीं होता और जब तक हम अपने विचारों पर स्वामित्व न पा लें, किसी भी तरह हम अपने लिए उत्तरदायी नहीं होते।

दूसरी शर्त : अपनी मानसिक क्रियाओं के सार्थक निर्देशन के लिए निरन्तर दृढ़ संकल्प करें।

तीसरी शर्त : अपने विचारों का अवलोकन करें ताकि हम उनसे परिचित हो जायें, उनकी अभ्यस्त धारा को जान सकें और उनकी ओर ध्यान दे सकें जिनका हमारी संवेदनशील और भाव-प्रधान प्रकृति से विशेष मेल है।

चौथी शर्त : अपने अन्दर उस भाव को ढूँढ़ें जो सबसे ऊँचा, सबसे उदात्त, सबसे अधिक शुद्ध और सबसे अधिक निःस्वार्थ प्रतीत होता हो और जब तक इसके स्थान पर इससे अच्छा भाव न मिल जाये तब तक इसे वह धुरी बना लें जिसके चारों ओर हमारे मानसिक समन्वय की रचना की जाये, इसे वह नियामक भाव बना लें जिसके प्रकाश में और सब विचारों को देखा और जाँचा जा सके, यानी, वे स्वीकार या अस्वीकार किये जा सकें।

पाँचवी शर्त : एक नियमित और दैनिक मानसिक अनुशासन के अधीन होना। इस विषय में दी गयी सभी शिक्षाओं में से उस विधि को चुन लेना

जो सबसे अधिक प्रभावशाली प्रतीत होती हो और फिर उसका ईमानदारी से, कठोरता से, शक्ति और अध्यवसाय के साथ अनुसरण करना।

कुछ महत्त्वपूर्ण परामर्श :

हमें आवश्यक मानसिक विश्राम लेना जानना चाहिये।

अपने-आपसे हम जितना कर सकते हैं उससे अधिक की माँग नहीं करनी चाहिये।

समय को भी उसका स्थान दो। अपने उद्योग के फल की प्रतीक्षा धीरज से करना जानो।

अन्त में, हम जो कुछ कर सकते हैं, उसकी ज़रा भी उपेक्षा किये बिना, अपने-आपको उस सर्वोच्च 'महान् शक्ति' के ऊपर नन्हें बच्चे के विश्वास के साथ छोड़ देना सीखना चाहिये, उस 'भगवती शक्ति' पर जो सब प्राणियों और सब चीज़ों में 'एक' है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड २, पृ. ७३-७४

केन्द्रीय विचार

यह प्राचीन कथन ठीक था :

"हम और हमारा आदि स्रोत, हम और हमारे भगवान् एक हैं।"

इस एकत्व को केवल कम या अधिक घनिष्ठता और अन्तरंगता का सम्बन्ध नहीं, वरन् एक सच्चा तादात्म्य समझना चाहिये।

इस प्रकार, जो व्यक्ति भगवान् की खोज में, अगम्य शिखर की ओर सीढ़ी-पर-सीढ़ी चढ़ने का प्रयास करता है वह यह भूल जाता है कि उसका समस्त ज्ञान, उसकी समस्त अन्तर्दृष्टि उसे इस असीम की ओर एक पग भी आगे नहीं ले जा सकते, और वह यह भी नहीं जानता कि वह जिसे प्राप्त करना चाहता है और जिसे अपने से इतनी दूर समझता है, वह उसके अन्दर ही विद्यमान है।

और वह उस आदि स्रोत के विषय में कुछ जान भी कैसे सकता है जब तक कि वह अपने अन्दर उस स्रोत के बारे में सचेतन न हो जाये?

अपने-आपको समझ कर, अपने-आपको जानना सीख कर ही मनुष्य यह परम आविष्कार कर सकता है और तब आश्चर्यचकित होकर बाइबल के बिशप की भाँति बोल पड़ता है : "अरे, यहीं तो है भगवान् का आवास, और मैं जानता न था।"

इसलिए समस्त भौतिक जगत् की सृष्टि करने वाले इस उत्कृष्ट विचार को हमें व्यक्त करना होगा, समस्त पृथ्वी और आकाश में व्याप्त यह वाणी सबके कानों तक पहुँचानी होगी: "मैं प्रत्येक वस्तु में हूँ और प्रत्येक प्राणी में हूँ।"

जब सब लोग इस बात को जान जायेंगे तब वह दिन, जिसकी प्रतिज्ञा की गयी है, महान् रूपान्तर का वह दिन समीप आ जायेगा। मानव जब 'जड़-पदार्थ' के प्रत्येक अणु-परमाणु में उसके अन्दर रहने वाले 'भगवान्' की इच्छा को देखने लगेगा, प्रत्येक प्राणी में 'भगवान्' की किसी भंगिमा की ही झलक देखेगा, और जब प्रत्येक मानव अपने भ्राता के अन्दर भगवान् को देख पायेगा तब उस उषा का उदय होगा जो उस अन्धकार, असत्य, अज्ञान, दोष और कष्ट को दूर भगा देगी, जो सारी 'प्रकृति' को अपने भार से दबाये हुए है। कारण: "दुःख भोगती और कराहती समस्त प्रकृति प्रतीक्षा कर रही है कि ईश्वर के पुत्र अपने-आपको कब प्रकट करेंगे।"

वास्तव में यही वह केन्द्रीय विचार है जिसमें अन्य सभी विचारों का सार आ जाता है। समस्त जीवन को आलोकित करने वाले सूर्य की भाँति इस विचार को हमारी स्मृति में सदा उपस्थित रहना चाहिये।

इसीलिए मैं आज इसकी याद दिला रही हूँ। कारण, यदि हम इस विचार को एक अत्यन्त दुर्लभ रत्न, अत्यन्त बहुमूल्य सम्पदा के समान हृदय में सँजो कर अपने पथ पर चलें, यदि हम इसे अपने अन्दर ज्योति प्रदान करने और रूपान्तर करने का कार्य करने दें, तो हम जानेंगे कि यह प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक प्राणी के मर्म में जीवन्त रूप से विद्यमान है और इसी के अन्दर हमें समस्त विश्व के आश्चर्यमय एकत्व की अनुभूति होगी।

और तब हमें बोध होगा कि हमारी तुच्छ तृप्तियाँ, हमारे मूर्खतापूर्ण लड़ाई-झगड़े, हमारे तुच्छ आवेग, हमारे अन्ध रोषावेश कितने व्यर्थ और बचकाने हैं! हम देखेंगे कि हमारी छोटी-छोटी दुर्बलताएँ पिघलती जा रही हैं, हमारे सीमित व्यक्तित्व की, हमारे निर्बोध अहंकार की अन्तिम मोर्चाबन्दियाँ भूमिसात् हो रही हैं। हमें अनुभव होगा कि हम सच्ची आध्यात्मिकता की महान् धारा में बहे जा रहे हैं जो हमें हमारे सीमित ढाँचों से, हमारी संकीर्ण सीमाओं से मुक्त कर देगी।

व्यक्तिगत 'मैं' और विश्वगत 'मैं' दोनों एक हैं। प्रत्येक लोक में, प्रत्येक

सत्ता में, प्रत्येक वस्तु में, प्रत्येक अणु में भगवान् विराजमान हैं और उन्हें अभिव्यक्त करना ही मनुष्य के जीवन का लक्ष्य है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड २, पृ. ४६-४८

मन निर्णय नहीं ले सकता

मन के लिए एक चीज़ करनी बहुत कठिन होती है, किन्तु मेरी दृष्टि में वह बहुत महत्त्वपूर्ण है। वह यह है कि अपने मन को चीज़ों और मनुष्यों के विषय में निर्णय कभी मत करने दो। यह कहना कि "यह अच्छा है, वह बुरा है, यह ठीक है, वह ग़लत है, इसमें यह दोष है, उसमें वह बुरी चीज़ है", आदि-आदि—यह निन्दात्मक फ़ैसला होता है।

जो लोग बुद्धि से काम लेते हैं, वे जितने अधिक बुद्धिमान् होते हैं उतना ही अधिक वे यह समझने लगते हैं कि वे बिलकुल कुछ भी नहीं जानते और मन के द्वारा कोई कुछ भी नहीं जान सकता। तुम एक विशेष ढंग से सोच सकते हो, एक विशेष रीति से निर्णय कर सकते और देख सकते हो, किन्तु किसी भी चीज़ के बारे में सुनिश्चित नहीं हो सकते—और कभी होओगे भी नहीं। हमेशा कहा जा सकता है, "शायद वह ऐसा है", या "शायद यह ऐसा है", आदि-आदि, और यह अनिश्चित काल तक चलता रह सकता है, क्योंकि मन ज्ञान-प्राप्ति का यन्त्र नहीं है।

विचारों के ऊपर विशुद्ध भाव होते हैं; विचारों का कार्य है विशुद्ध भावों को प्रकट करना। और जैसे विशुद्ध भाव विचार के ऊपर हैं, वैसे ही 'ज्ञान' विशुद्ध भावों के लोक से बहुत ऊपर है। अतः, विचार से ऊपर उठ कर विशुद्ध भाव में जाना हमें सीखना होगा और स्वयं विशुद्ध भाव भी और कुछ नहीं, केवल 'ज्ञान' के लिए ही दूसरा शब्द है। और 'ज्ञान' तो केवल पूर्ण एकात्मता से ही प्राप्त हो सकता है। अतः, जब तुम अपनी छोटी-सी मानवीय मानसिकता के अन्दर, स्थूल चेतना की मानसिकता के अन्दर सिमटे रहते हो, जो सदा सक्रिय रहती है, जो हर चीज़ पर दृष्टि डालती है, हर चीज़ को अपनी नकली श्रेष्ठता की ऊँचाई से जाँचती है, जो कहा करती है, "वह बुरा है, उसे ऐसा नहीं होना चाहिये", तब तुम निश्चित रूप से, बिना किसी अपवाद के, सदा ही धोखा खाते हो। सबसे अच्छा है चुप रहना, चीज़ों को बहुत अच्छी तरह देखना, धीरे-धीरे अपने

अन्दर सब कुछ अँकित कर लेना और कोई फ़ैसला दिये बिना सबको अन्तर में रखे रहना। जब तुम इन सबको स्थिर भाव से, बिना किसी हलचल के अपने अन्दर रख सकोगे और उसे शान्तिपूर्वक अपनी चेतना के उच्चतम अंग के समक्ष प्रस्तुत कर सकोगे, साथ ही सतर्क नीरवता बनाये रखने का प्रयत्न करोगे और प्रतीक्षा करोगे, तब शायद, धीरे-धीरे, मानों बहुत दूर से और बहुत ऊपर से आने वाली प्रकाश-जैसी कोई चीज़ प्रगट होगी और तुम्हें सत्य का थोड़ा-सा अधिक ज्ञान प्राप्त हो जायेगा।

किन्तु जब तक तुम अपने विचारों को फड़फड़ाते रहोगे, उन्हें छोटे-छोटे टुकड़ों में काटते रहोगे तब तक तुम कभी कुछ नहीं जान पाओगे। आवश्यक हो तो तुम्हारे सामने मैं यह बात सौ बार दोहराऊँगी, पर मैं तुम्हें विश्वास दिलाती हूँ कि जब तक तुम्हें इस बात पर विश्वास नहीं हो जाता तब तक तुम अपने अज्ञान से कभी बाहर नहीं निकल सकोगे।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. ५६-५७

मेरे हृदय की निश्चलता में तेरी आवाज़ सुरीले राग की तरह सुनायी देती है और मेरे मस्तिष्क में ऐसे शब्दों में अनूदित होती है जो अपर्याप्त होते हुए भी तुझसे ओतप्रोत हैं। और ये शब्द पृथ्वी को सम्बोधित करते हुए उससे कहते हैं :—बेचारी दुःखी पृथ्वी, याद रख कि मैं तेरे अन्दर विराजमान हूँ और आशा न छोड़। हर प्रयास, हर दुःख, हर ख़ुशी, हर पीड़ा, तेरे हृदय की प्रत्येक पुकार, तेरी अन्तरात्मा की हर अभीप्सा, तेरी ऋतुओं का हर पुनर्नवीकरण, सब के सब, बिना अपवाद के, जो तुझे दुःखपूर्ण लगता है और जो तुझे सुखद मालूम होता है, जो तुझे कुरूप लगता है और जो तुझे सुन्दर मालूम होता है, सभी तुझे निरपवाद रूप से मेरी ओर लाते हैं और मैं अनन्त 'शान्ति', छायाहीन 'प्रकाश', पूर्ण 'सामञ्जस्य', 'निश्चिति', 'विश्राम' और परम 'धन्यता' हूँ।

सुन, हे धरित्री, उस उत्कृष्ट वाणी को सुन जो उठ रही है।

सुन और नया साहस जगा!

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १, पृ. १५

सचेतन बनना

सबसे पहली आवश्यक चीज़

योग के लिए अपने-आपको तैयार करने के लिए क्या करना चाहिये?

सबसे पहले व्यक्ति को सचेतन बनना चाहिये। हम अपनी सत्ता के एक नगण्य से भाग में सचेतन हैं, इसके अधिकांश भाग में हम अचेतन हैं। यह अचेतनता ही हमें अपनी प्रकृति के अपरिमार्जित भाग के साथ नीचे की ओर बाँधे रहती है और उसके परिवर्तन या रूपान्तर को रोकती है। अचेतना द्वारा ही अदिव्य शक्तियाँ हमारे अन्दर घुस आती हैं और हमें अपना ग़ुलाम बना लेती हैं। तुम्हें अपने बारे में सचेतन होना चाहिये, अपनी प्रकृति और प्रवृत्तियों के प्रति तुम्हें जाग्रत् होना चाहिये, तुम्हें यह जानना चाहिये कि तुम किसी चीज़ को क्यों और कैसे करते हो, कैसे सोचते या अनुभव करते हो। तुम्हें अपने प्रेरक भावों, आवेशों और अपनी गुप्त या प्रकट शक्तियों को समझना चाहिये जिनकी प्रेरणा से तुम काम करते हो। या यूँ कहें कि तुम्हें अपनी सत्ता की मशीन के सभी कल-पुरज़ों को अलग-अलग करके जान लेना चाहिये। एक बार तुम सचेतन हो जाओ तो तुम खरे और खोटे की परख और छान-बीन कर सकोगे, तुम देख सकोगे कि कौन-सी शक्तियाँ तुम्हें नीचे की ओर खींचती हैं और कौन-सी ऊपर उठने में सहायता देती हैं। और जब तुम उचित को अनुचित से, सत्य को असत्य से, दिव्य को अदिव्य से अलग करके जान लो तो तुम्हें सख़्ती से अपने इस ज्ञान के अनुसार चलना चाहिये, अर्थात्, दृढ़तापूर्वक एक को त्याग कर दूसरे को स्वीकार करना चाहिये। पग-पग पर ये द्वन्द्व तुम्हारे सामने उपस्थित होंगे और पग-पग पर तुम्हें चुनाव करना होगा। तुम्हें धैर्य रखना होगा, लगन लगाये रहना होगा और चौकन्ना रहना होगा—योगियों की भाषा में "निद्रा-रहित"; दिव्यता का विरोध करती अदिव्यता को किसी भी प्रकार का मौक़ा देने से सदा ही इन्कार करना होगा।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. ४

परम रहस्य है, वही चाहना जो भगवान् चाहते हैं। —*श्रीमाँ*

प्रकाशमान परदा

तुम्हें अपनी गतिविधियों के मूल का स्पष्ट बोध होना चाहिये, क्योंकि सत्ता के अन्दर परस्पर-विरोधी इच्छाएँ उठती हैं—कुछ तुम्हें यहाँ धकेलती हैं तो कुछ वहाँ, और इससे स्पष्ट ही जीवन में अराजकता उत्पन्न हो जाती है। यदि तुम स्वयं अपना निरीक्षण करो तो देखोगे कि जैसे ही तुम कोई ऐसी चीज़ करते हो जो तुम्हें ज़रा क्षुब्ध कर देती है तो तुरत ही मन कोई अनुकूल कारण दिखा कर तुम्हारा समर्थन कर देता है—यह मन हर चीज़ पर सुनहरा मुलम्मा चढ़ा सकता है। ऐसी परिस्थितियों में अपने-आपको जानना कठिन होता है। यदि कोई ऐसी परिस्थिति में अपने-आपको जानना चाहे तो ऐसा करने के लिए और मनोमय सत्ता के छोटे-छोटे सभी मिथ्यात्वों को स्पष्ट रूप में देखने के लिए उसे पूरी तरह से सच्चा होना चाहिये।

यदि तुम अपने सारे दिन की विभिन्न गतियों और प्रतिक्रियाओं का अपने मन द्वारा अवलोकन करते रहो, ठीक उसी तरह जैसे कोई एक ही चीज़ को अनिश्चित काल तक दोहराता रहता है, तो इससे तुम्हारी प्रगति नहीं होगी। इस अवलोकन के द्वारा यदि प्रगति करनी हो तो तुम्हें अपने अन्तर में कोई ऐसी चीज़ ढूँढ़नी होगी जिसके प्रकाश में तुम स्वयं अपने जज बन सको; वह कोई ऐसी चीज़ होगी जो तुम्हारे लिए तुम्हारी सत्ता के सर्वोत्तम अंग का प्रतिनिधित्व करती है, जिसमें कुछ प्रकाश है, कुछ सद्भावना है और जो वास्तव में प्रगति से प्यार करती है। उस चीज़ को अपने सामने रखो और सबसे पहले सिनेमा की तरह उन सब चीज़ों को अपने सामने से गुज़रने दो जिन्हें तुमने किया है, जिन्हें तुमने अनुभव किया है, तुम्हारे जितने भी आवेग, जितने भी विचार आदि हैं सबको उसी तरह गुज़रने दो; फिर उन्हें शृंखलाबद्ध करने का प्रयास करो, यानी, यह पता लगाओ कि अमुक के बाद अमुक क्यों हुआ? तुम्हारे सामने जो प्रकाशमान परदा है उस पर दृष्टि डालो : कुछ चीज़ें तो ठीक गुज़र जाती हैं, उनकी कोई भी छाया परदे पर नहीं पड़ती। इसके विपरीत, कुछ अन्य थोड़ी-सी छाया डालती हैं; और फिर कुछ ऐसी होती हैं जो बिलकुल ही काली और विरक्तिजनक छाया डालती हैं। यह क्रिया तुम्हें सच्चाई से करनी होगी, मानों तुम कोई खेल खेल रहे होओ : इन परिस्थितियों में मैंने ऐसा-ऐसा किया, ऐसे-ऐसे अनुभव किया, ऐसे-ऐसे सोचा; मेरे सामने ज्ञान और आत्म-प्रभुत्व का आदर्श है, तो

मेरा यह कार्य इस आदर्श के अनुसार था या नहीं? वह यदि उसके अनुसार था तो परदे पर कोई छाया नहीं छोड़ेगा और परदा स्वच्छ-पारदर्शक बना रहेगा तथा उसके विषय में चिन्ता करने की कोई ज़रूरत नहीं होगी। यदि वह उसके अनुकूल नहीं था तो उसकी एक छाया पड़ेगी। उसकी छाया क्यों पड़ी? इस काम में कौन-सी चीज़ आत्म-ज्ञान और आत्म-प्रभुत्व के संकल्प के विपरीत थी? अधिकतर तुम देखोगे कि वह चीज़ अचेतनता से मिलती-जुलती है—तब तुम उसे अचेतन चीज़ों के पुलिन्दे में दाख़िल कर दो और यह निश्चय कर लो कि अगली बार कुछ भी करने से पहले तुम सचेतन रहने का प्रयत्न करोगे। किन्तु अन्य विषयों में तुम देखोगे कि तुम्हारे कार्य को, तुम्हारे विचार आदि को विकृत करने के लिए जो चीज़ आयी थी वह एक कुरूप, तुच्छ, एकदम काली अहंभावना थी। तब तुम इस अहं को अपने "प्रकाश" के सम्मुख रखो और अपने-आपसे पूछो: "इसे यह अधिकार क्यों है कि यह मुझसे वैसा कार्य कराये, वैसा विचार कराये...?" और ऐसे समय किसी भी प्रकार की कोई बेढंगी व्याख्या मत स्वीकार करो, बल्कि अनुसन्धान करो और फिर तुम्हें अपनी सत्ता के एक कोने में एक ऐसी चीज़ मिलेगी जो यह सोचती और कहती होगी: "ओह नहीं, मुझे सब कुछ स्वीकार है पर यह नहीं।" तुम देखोगे कि यह कोई क्षुद्र मिथ्याभिमान है, आत्म-प्रीति की कोई क्रिया है, कहीं छिपी हुई कोई अहं-भावना है, इस प्रकार की सैकड़ों चीज़ें होती हैं। तब अपने आदर्श के प्रकाश में इन चीज़ों की ओर एक गहरी दृष्टि डालो: "इस क्रिया को पोसना मेरे आदर्श की खोज और प्राप्ति के अनुकूल है या नहीं? इस छोटे-से अँधियारे कोने को मैं इस प्रकाश के सामने रख रहा हूँ जिससे कि वह प्रकाश इसके अन्दर प्रवेश कर जाये और यह तिरोहित हो जाये।" तब यह खेल समाप्त हो जाता है। किन्तु, तुम जानते हो, इससे तुम्हारे सारे दिन का खेल समाप्त नहीं हो जाता। क्योंकि ऐसी और बहुत-सी चीज़ें बाक़ी रह जाती हैं जिन्हें प्रकाश के सम्मुख लाना है। पर यदि तुम यह खेल जारी रखो—यदि तुम इसे सच्चाई के साथ करो तो यह सचमुच में एक खेल ही है—तो मैं विश्वास दिलाती हूँ कि छः महीनों के अन्दर तुम अपने-आपको पहचान न पाओगे, तुम अपने-आपसे कहोगे, "अरे! क्या मैं ऐसा था? असम्भव!"

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. ४६-४८

आज से हम यह निश्चय कर लें कि हम अपने-आपको प्रतिदिन पूरी सच्चाई तथा सदिच्छा के साथ ऊपर उठायेंगे; एक तीव्र अभीप्सा के साथ उस सत्य के सूर्य की ओर, उस चरम प्रकाश की ओर बढ़ेंगे जो विश्व का बौद्धिक जीवन तथा उसका स्रोत है, ताकि वह प्रकाश हमारे अन्दर पूर्ण रूप से प्रवेश पाकर अपनी महान् ज्योति से हमारे मनों, हृदयों, सभी विचारों और कर्मों को प्रबुद्ध कर दे।

तभी हमें प्राचीन काल के उन महान् गुरु के निर्देश का अनुसरण करने का अधिकार तथा गौरव प्राप्त होगा जिनका कथन है :

"करुणा से उमड़ते हुए हृदय के साथ इस संसार में प्रवेश करो जो कष्ट से भरपूर है। शिक्षक बनो और जहाँ-जहाँ अन्धकार तथा अज्ञान का साम्राज्य है वहाँ-वहाँ ज्ञान का दीपक जला दो।"

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड २, पृ. ३४

विवेकपूर्ण बनो

किन्तु चेतना की उच्चतर स्थिति में पहुँचने से पहले एक ऐसी स्थिति आती है जहाँ मनुष्य अपने अन्दर तर्क-शक्ति को—एक स्पष्ट, सुनिश्चित, युक्तिसंगत तर्क-बुद्धि को विकसित कर सकता है जो चीज़ों को पर्याप्त रूप में तटस्थ दृष्टि से देख सके। और इस बुद्धि का पर्याप्त विकास कर चुकने पर तुम अपने सब आवेगों, अनुभवों, कामनाओं, समस्त अस्त-व्यस्तताओं को इस तर्क-बुद्धि के समक्ष रख सकते हो और इससे तुम विवेकशील बन जाते हो। अधिकतर लोग तकलीफ़ में पड़ कर अविवेकी हो जाते हैं। उदाहरण के लिए, जब वे बीमार हो जाते हैं तब अपना समय वे यह कहते हुए बिताते हैं, "ओह, मैं कितना बीमार हूँ, कितना कष्टकर है यह, क्या हमेशा ऐसी ही स्थिति बनी रहेगी?" और स्वाभाविक है कि अवस्था बिगड़ती चली जाती है। या जब कोई दुर्भाग्य उन पर आ पड़ता है तो वे चिल्ला उठते हैं, "केवल मुझ पर ही ऐसी चीज़ें आती हैं और मैं सोचता था कि अब तक सब कुछ ठीक ही चल रहा है", और उनके आँसू टप-टप गिरने लगते हैं, स्नायुएँ परेशान हो उठती हैं। हाँ, अतिमानव की तो बात ही अलग है, स्वयं मनुष्य के अन्दर ही एक उच्चतर सामर्थ्य है जिसे विवेक-बुद्धि कहते हैं, जो चीज़ों को धीरता से, शान्ति से, युक्तिसंगत तरीक़े से देख सकती है। यह बुद्धि तुमसे कहती है, "चिन्ता न करो, इससे कुछ भी सुधार न होगा, तुम्हें शिकायत नहीं करनी चाहिये, जब यह बात घट ही गयी तो इसे स्वीकार कर लेना चाहिये।" तब तुम तुरन्त शान्त हो जाते हो। यह मन के लिए एक बहुत अच्छा प्रशिक्षण है; इससे निर्णय-शक्ति, दृष्टि और वस्तुनिष्ठता का विकास होता है और साथ ही तुम्हारे चरित्र पर इसकी बहुत स्वस्थ क्रिया होती है। इससे तुम्हें अपनी स्नायुओं पर ज़ोर डालने की मूर्खता से बचने और विवेकपूर्ण व्यक्ति की तरह आचरण करने में सहायता मिलती है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. ५५-५६

सभी अग्नि-परीक्षाओं के लिए कृतज्ञ होओ, क्योंकि वे भगवान् की ओर ले जाने वाले छोटे-से-छोटे रास्ते हैं।

—श्रीमाँ

प्राणिक विद्रोह के साथ निपटना

मेरे ख़याल से प्राण अपनी शक्ति के प्रति बहुत सचेतन होता है और इसी कारण यह महत्त्वपूर्ण है : उसमें वह क्रियाशील ऊर्जा है जिसके कारण कोई भी कठिनाई ऐसी नहीं जो उसके लिए अति कठिन हो; किन्तु उसे सही पक्ष में रहना चाहिये। यदि वह सहयोग देता है तो हर चीज़ अद्‌भुत हो जाती है, लेकिन उससे यह सतत सहयोग पाना आसान नहीं है। वह बहुत अच्छा कार्यकर्ता है, वह बहुत ही अच्छी तरह काम करता है, किन्तु काम करने में वह सदा अपनी निजी सन्तुष्टि चाहता है, वह उस काम से कुछ पाना चाहता है, उस काम से जो भी सुख मिल सकता है, जो भी लाभ मिल सकता है उसे पाना चाहता है; और जब किसी भी कारण से (कितने ही कारण हो सकते हैं) यह सन्तुष्टि उसे प्राप्त नहीं होती तो वह ख़ुश नहीं होता, बिलकुल ख़ुश नहीं होता : "यह उचित नहीं है, मैं काम करता हूँ और बदले में मुझे कुछ भी नहीं मिलता"; ऐसा सोच कर वह खीझ उठता है, निश्चल हो जाता है, चुप हो जाता है और कभी-कभी कहता है, "मैं हूँ ही नहीं।" तब फिर शरीर की सारी शक्ति निकल जाती है, तुम थक जाते हो, अशक्त हो जाते हो, और कुछ भी नहीं कर सकते। फिर अचानक ही अवस्था और भी ख़राब हो जाती है, क्योंकि यहाँ मैं कह दूँ कि प्राण के साथ मन की बहुत दोस्ती है—युक्तिप्रधान मन नहीं, बल्कि स्थूल मन प्राण के साथ बहुत अधिक दोस्ती रखता है। अतः प्राण के यह कहते ही कि "मेरा इससे कोई सरोकार नहीं, मेरे साथ बुरा व्यवहार हुआ है, मुझे अब इसमें कुछ करना-धरना नहीं है", मन स्वभावतः ही आ उपस्थित होता है, उसे उत्साहित करता है, समझाता है, अच्छे-अच्छे कारण प्रस्तुत करता है और वही पुरानी कहानी शुरू हो जाती है : "जीवन जीने-योग्य नहीं, लोग सचमुच विरक्तिकर हैं, सारी परिस्थितियाँ मेरे विपरीत हैं, बस, इस सबको छोड़ देना ही अच्छा है", आदि-आदि। ऐसा प्रायः ही होता है, किन्तु कभी-कभी बुद्धि की एक हलकी-सी चमक कहीं से आ जाती है और कहती है, "ओह, बहुत हो चुका यह नाटक!"

किन्तु प्राण का भाव यदि बहुत ज़ोर पकड़ ले और तुम समय पर प्रतिक्रिया न करो तो तुम निराशा में जा गिरते हो : "सचमुच यह जीवन मेरे जैसे लोगों के लिए नहीं बना है, मैं कहीं अन्यत्र, किसी स्वर्ग में बड़ा

सुखी होऊँगा जहाँ हर कोई बड़ा भला होता है और मनुष्य जो कुछ चाहे कर सकता है" आदि-आदि; और इसी से स्वर्ग की कल्पनाओं का जन्म होता है—निस्सन्देह, मेरा ख़याल है कि मन और प्राण, इन दोनों साथियों ने ही मिल कर स्वर्ग का आविष्कार किया है! क्योंकि, यदि जीवन और संसार तुम्हारी कामना के अनुसार नहीं होते तो तुम रोना आरम्भ कर देते हो, "ओह, काफ़ी देख लिया, यह जगत् बहुत ही दुःखपूर्ण और धोखेबाज़ है, मैं तो अब मर ही जाना चाहता हूँ।" तब एक ऐसा क्षण आता है जब यह स्थिति गम्भीर हो जाती है; निरुत्साह की भावना बदल जाती है विद्रोह में, हताशा बदल जाती है असन्तोष में। मैं यहाँ बात कर रही हूँ बुरे स्वभाववाले लोगों की (यह उनका दोष नहीं है!) और ऐसे लोग भी हैं जिनका स्वभाव अच्छा होता है (यह भी उनका दोष नहीं है!) किन्तु बात ऐसी ही है—जिनका स्वभाव बुरा होता है, वे क्रुद्ध हो जाते हैं, विद्रोह करते हैं, हर चीज़ को तोड़-फोड़ देना, गिरा डालना चाहते हैं, कहते हैं: "अब तुम देखना, वे मेरी इच्छानुसार काम नहीं करते, उन्हें दण्ड मिलेगा!" फिर बात थोड़ी और गम्भीर हो जाती है, क्योंकि मन वहाँ हमेशा ही एक साथी की तरह सहायता देने के लिए विद्यमान रहता है और प्रतिशोध के आश्चर्यपूर्ण विचार बनाना आरम्भ कर देता है—निरुत्साह के कारण तुम एक प्रकार की मूर्खता करते हो और शठता के वश दूसरे प्रकार की। निरुत्साह के कारण की हुई मूर्खताओं का सम्बन्ध स्वयं तुमसे होता है, जब कि शठतावश की गयी मूर्खताओं का सम्बन्ध दूसरों से होता है; और कभी-कभी ये पिछली मूर्खताएँ बड़ी गम्भीर हो जाती हैं। यदि तुम्हारे अन्दर थोड़ी-सी भी सद्भावना है तो सबसे अच्छा यह है कि जब कोई ऐसा दौरा आये तो यह नियम बना लो कि तुम ज़रा भी नहीं हिलोगे, बस, अपने-आपसे यह कहोगे, "मैं टस से मस नहीं होऊँगा, इस तूफ़ान के निकल जाने की प्रतीक्षा करूँगा", वरना महीनों नियमित रूप से किये गये प्रयत्नों पर तुम कुछ ही क्षण में पानी फेर दे सकते हो।

अतएव, मैं तुम से एक सान्त्वना की बात कहती हूँ:

"जो लोग अपने चैत्य पुरुष के साथ इतना पर्याप्त सम्पर्क स्थापित कर चुके हैं कि उनकी अभीप्सा की लौ और उनके प्राप्तव्य आदर्श की चेतना जीवन्त बनी रहे, उनके लिए ऐसे दौरे कम लम्बे और कम ख़तरनाक होते

हैं। इस चेतना की सहायता से वे अपनी प्राण-सत्ता के साथ वैसे ही धैर्य और लगन के साथ व्यवहार कर सकते हैं जैसे किसी विद्रोही बालक के साथ किया जाता है; उसे सत्य और ज्योति दिखा सकते हैं, उसे विश्वास दिलाने की कोशिश कर सकते हैं और एक क्षण के लिए जो सद्भावना उसमें ढक गयी थी उसे जगाने का प्रयास कर सकते हैं।"

("जीवन-विज्ञान", 'शिक्षा')

और अब अन्तिम सान्त्वना : जो लोग सचमुच सच्चे होते हैं, जिनमें वास्तव में सदिच्छा होती है, उन सबके लिए ये सारे दौरे प्रगति के साधनों में बदल सकते हैं। जब-जब तुम पर इस प्रकार का कोई आक्रमण हो, एक प्रकार का तूफ़ान आये, तब-तब तुम उस संकट को नयी प्रगति में बदल सकते हो, लक्ष्य की ओर ले जाने वाली एक मंज़िल बना सकते हो। यथार्थ में, यदि तुम्हारे अन्दर इतनी पर्याप्त सच्चाई हो कि तुम अपने अन्दर उस दौरे के कारण को—तुमने क्या ग़लत किया है, क्या ग़लत सोचा है, क्या ग़लत अनुभव किया है उसे—प्रत्यक्ष देख सको, यदि तुम अपनी दुर्बलता को, उग्र व्यवहार को या मिथ्याभिमान को (मैं यह तो कहना भूल ही गयी थी कि मन की अपेक्षा प्राण कहीं अधिक मिथ्याभिमान से भरा होता है) देख सको, यदि इन सबको पूरा-का-पूरा खुली आँखों देख सको और यदि ईमानदारी और सच्चाई से स्वीकार कर सको कि जो कुछ हुआ है वह तुम्हारे दोष के कारण ही हुआ है तो तुम मानों उस विकृत स्थल पर तपता हुआ लाल लोहा रख देते हो। तब तुम दुर्बलता को शुद्ध कर उसे एक नयी चेतना में परिवर्तित कर सकते हो। तूफ़ान के बाद तुम देखोगे कि तुम कुछ अधिक विकसित हो गये हो, तुमने यथार्थ में प्रगति कर ली है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. ५९-६२

काम करते समय अपने-आपको भूल जाना

मनुष्य अधिकाधिक तल्लीनकारी कार्य के अन्दर अपने-आपको भूलने का प्रयास कर सकता है; अर्थात् जिस काम को वह कर रहा है उसी को भगवदर्पित भाव से, पूर्णतः निःस्वार्थ भाव से करता है, परन्तु करता है परिपूर्णता, आत्मदान, सम्पूर्ण आत्म-विस्मरण के साथ : वह अब और अपने विषय में नहीं सोचता, बल्कि जो कुछ करता है उसके विषय में सोचता है।

तुम यह बात जानते हो, मैंने तुमसे पहले भी यह बात कही है : यदि तुम कोई कार्य सुचारु रूप से करना चाहते हो, वह कार्य चाहे जो भी क्यों न हो, किसी प्रकार का क्यों न हो, चाहे जितना छोटा हो, कोई खेल खेलना हो, कोई पुस्तक लिखने का कार्य हो, चित्रकारी या संगीत-सम्बन्धी कार्य हो, किसी दौड़ में भाग लेना हो, कोई भी चीज़ क्यों न हो, यदि तुम उसे अच्छी तरह करना चाहते हो तो तुम्हें बस वही **बन जाना** होगा जो तुम कर रहे हो, और एक तुच्छ व्यक्ति नहीं बने रहना होगा जो उसे करते हुए अपने-आपको देख रहा हो; क्योंकि यदि कोई अपने-आपको कार्य करते हुए देखता है तो वह... वह अभी भी अहंकार के साथ सहभागी होता है। यदि, अपने अन्दर, वह वही चीज़ बन जाने में सफल होता है जिसे वह करता है तो यह एक महान् प्रगति है। कार्य के छोटे-से-छोटे ब्योरे में भी हमें ऐसा करना सीखना होगा। एक बहुत मज़ेदार उदाहरण लें : तुम किसी बोतल से कोई चीज़ दूसरी बोतल में भरना चाहते हो; तुम एकाग्र होते हो (तुम एक अनुशासन के रूप में, एक अभ्यास के रूप में इसे करने की चेष्टा कर सकते हो); हाँ तो, जब तक तुम भरी जाने वाली बोतल, जिससे तुम उँडेलते हो वह बोतल और उँडेलने की क्रिया बने रहते हो, जब तक तुम केवल वही बने रहते हो तब तक सारा कार्य ठीक चलता है। परन्तु दुर्भाग्यवश, यदि तुम किसी मुहूर्त यह सोचने लगते हो : "आह! यह सब ठीक चल रहा है, मैं अच्छी तरह इसे कर रहा हूँ," दूसरे ही क्षण वह चीज़ बाहर ढरक जाती है! बस, यही बात प्रत्येक चीज़ के लिए, प्रत्येक चीज़ के लिए है। इसी कारण कर्म अनुशासन का एक अच्छा साधन है, क्योंकि यदि तुम उचित ढंग से कार्य करना चाहो तो तुम्हें कार्य करने वाला कोई व्यक्ति बने रहने की जगह स्वयं वह कार्य ही **बन जाना** होगा, अन्यथा तुम उसे कभी भली-भाँति नहीं कर सकोगे। यदि तुम "काम करने वाला कोई व्यक्ति" बने रहो और, उसके साथ ही, तुम्हारे विचार इधर-उधर भटकते रहें तो तुम निश्चित रूप से यह मान सकते हो कि यदि तुम भंगुर वस्तुओं का व्यवहार कर रहे हो तो वे अवश्य टूट जायेंगी, यदि तुम भोजन बना रहे हो तो कोई चीज़ जला दोगे, अथवा यदि तुम कोई खेल खेल रहे हो तो सभी गेंदें तुम्हारे हाथ से निकल जायेंगी! बस, यहीं पर, इसी विषय में, कार्य एक बहुत बड़ा अनुशासन है। कारण, यदि तुम सचमुच उसे अच्छे

ढंग से करना चाहते हो तो उसे करने का केवल यही एक तरीक़ा है।...

जो चीज़ सबसे अधिक हीनता की, सीमितता की, तुच्छता की, निःशक्तता की भावना देती है वह हमेशा यही चीज़ होती है—अपनी ओर अपने-आपको मोड़ लेना, अपने-आपको अतिसूक्ष्म अहं की सीमाओं में बन्द कर लेना। तुम्हें अपने-आपको विस्तारित करना, दरवाज़ों को खोलना होगा। और सबसे उत्तम तरीक़ा है, स्वयं अपने ऊपर एकाग्र होने के बदले जो कुछ किया जाये उस पर एकाग्र होने में सक्षम होना।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. ४३३-३४, ४३६

निस्स्वार्थ भाव से कार्य करना

यदि तुम साधना करना चाहते हो तो स्पष्ट ही तुम्हें कम-से-कम, आंशिक रूप में ही सही, कोई ऐसा काम करना चाहिये जिसमें तुम्हारा स्वार्थ न हो, दूसरे शब्दों में, जो केवल अपने लिए ही न किया जाये। अध्ययन करना तो बहुत ठीक है, यह अत्यन्त आवश्यक है, बल्कि अनिवार्य है, किन्तु यह उस शिक्षा का केवल एक अंग है जिसके विषय में मैं तुम्हें अभी कुछ देर पहले बता रही थी तथा जिसे तुम्हें अपनी छोटी अवस्था से ही सीखना चाहिये। कारण, जब तुम बड़े हो जाते हो तो यह सब सीखना कहीं अधिक कठिन हो जाता है—किन्तु एक ऐसी आयु होती है जब तुम अपने अध्ययन के लिए आवश्यक नींव प्राप्त कर सकते हो, साथ ही, यदि व्यक्ति साधना करना चाहता है तो उसे कोई ऐसा काम भी करना चाहिये, जिसमें उसका केवल निजी हेतु ही न हो। कुछ निःस्वार्थ काम भी करना चाहिये, क्योंकि यदि वह पूर्णतया अपने में ही व्यस्त रहेगा तो वह एक प्रकार से कछुए के समान अपने ही खोल में बन्द रहेगा और वैश्व शक्तियों के प्रति नहीं खुलेगा। एक छोटी-सी निःस्वार्थ क्रिया, एक छोटा-सा कार्य जिसमें व्यक्ति का अपना कोई अहंभावयुक्त हेतु नहीं होता, एक ऐसी वस्तु के लिए द्वार खोल देता है जो उसके अपने क्षुद्र और छोटे-से व्यक्तित्व से एकदम अलग है।

व्यक्ति साधारणतया अपने घोंघे में ही बन्द रहता है, और वह दूसरे घोंघों के बारे में तभी जानता है जब उसे कोई आघात लगे या संघर्ष हो। किन्तु इस 'शक्ति' की, जो हर समय घूमती रहती है, और सत्ताओं की इस

पारस्परिक निर्भरता की चेतना बहुत विरल है। यह साधना की अनिवार्य अवस्थाओं में से एक है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. १७४-७५

हम अपनी चेतना को विशाल कैसे बना सकते हैं

मधुर माँ, हम अपनी चेतना को विशाल कैसे बना सकते हैं?

सबसे आसान तरक़ीब है, अपने-आपको किसी विशाल चीज़ के साथ एकात्म कर लो। उदाहरण के लिए, जब तुम्हें लगे कि तुम पूरी तरह किसी संकरे-सीमित विचार, इच्छा और चेतना में बन्द हो, जब तुम्हें ऐसा लगे कि तुम किसी सीप में बन्द हो, तो अगर तुम किसी बहुत विशाल चीज़ के बारे में सोचने लगो, उदाहरण के लिए, समुद्र के जल की विशालता, और अगर सचमुच तुम समुद्र के बारे में सोच सको कि वह कैसे दूर, दूर, दूर, दूर तक सभी दिशाओं में फैला है, इस तरह *(माताजी बाँहें फैला देती हैं)*, कैसे तुम्हारी तुलना में वह इतनी दूर है, इतनी दूर कि तुम उसका दूसरा तट देख भी नहीं सकते, उसके छोर के आस-पास भी नहीं पहुँच सकते, न पीछे, न आगे, न दाएँ, न बाएँ... वह विशाल, विशाल, विशाल, विशाल है।... तुम उसके बारे में सोचते हो और यह अनुभव करते हो कि तुम इस समुद्र पर उतरा रहे हो, इस तरह, और कहीं कोई सीमा **नहीं** है...। यह बहुत आसान है। तब तुम अपनी चेतना को कुछ, थोड़ा-सा विस्तृत कर सकते हो।

कुछ लोग, उदाहरण के लिए, आकाश को देखना शुरू करते हैं; और तब वे कल्पना करते हैं इन सब नक्षत्रों के बीच के अन्तरिक्ष और उस सारी अनन्तता की... जिसमें पृथ्वी एक छोटा-सा बिन्दु है, और तुम भी धरती पर एक छोटी-सी चींटी से भी छोटे बिन्दु हो। और तब तुम आकाश को देखते हो और अनुभव करते हो कि तुम इन अनन्त अन्तरिक्षों में, नक्षत्रों के बीच उतराते फिर रहे हो। और तुम दूर-दूर तक जाने के लिए ज़्यादा और ज़्यादा विशाल होते जाते हो। कुछ लोग इस तरह सफलता पाते हैं।

एक और तरीक़ा है जिसमें तुम पृथ्वी की सभी चीज़ों के साथ तादात्म्य अनुभव करने की कोशिश करते हो। उदाहरण के लिए, जब किसी चीज़ के बारे में तुम्हारी दृष्टि संकीर्ण हो और तुम्हें दूसरों की दृष्टि और उनके

दृष्टिकोण से चोट पहुँचती हो तो तुम्हें अपनी चेतना का स्थान बदलने से शुरू करना चाहिये, उसे दूसरों में रखने की कोशिश करो, और धीरे-धीरे अन्य सब लोगों के सोचने के विभिन्न तरीक़ों से अपने-आपको एक करने की कोशिश करो। यह ज़रा ज़्यादा... कैसे कहूँ?... ख़तरनाक है। क्योंकि दूसरों के विचारों और संकल्पों के साथ एक होने का मतलब होता है मूढ़ताओं और दुर्भावनाओं के ढेर के साथ तादात्म्य करना *(माताजी हँसती हैं)*, और इससे ऐसे परिणाम आ सकते हैं जो बहुत अच्छे न हों। फिर भी, कुछ लोग इसे आसानी से करते हैं। उदाहरण के लिए, जब उनका किसी से मतभेद होता है तो अपनी चेतना को विस्तार देने के लिए वे अपने-आपको दूसरे के स्थान पर रख कर चीज़ को अपने दृष्टिकोण से नहीं, दूसरे के दृष्टिकोण से देखते हैं। इससे चेतना का विस्तार होता है, यद्यपि उतना नहीं जितना पहले बताये गये उपायों से, जो बिलकुल निरापद हैं। उनसे तुम्हें कोई हानि नहीं होती, उलटे बहुत लाभ होता है। वे तुम्हें बहुत शान्त कर देते हैं।

चेतना को विस्तृत करने के बहुत-से बौद्धिक तरीक़े हैं। मैंने अपनी पुस्तक में इन्हें अच्छी तरह समझाया है। लेकिन बहरहाल, जब तुम किसी चीज़ से ऊब जाओ, जब कोई चीज़ तुम्हें कष्टदायक या बहुत अप्रिय लगे, उस समय यदि तुम काल की शाश्वतता के बारे में, देश की असीमता के बारे में सोचना शुरू करो, अगर तुम उस सबके बारे में सोचो जो बीत चुका है, और उस सबके बारे में सोचो जो होने वाला है, और यह देखो कि यह सेकेण्ड सचमुच शाश्वतता में एक चलती हुई साँस के जैसा है, और यह एकदम बेतुकी बात मालूम होती है कि कोई ऐसी बात पर परेशान हो उठे जो काल की अनन्तता में... तुम्हारे पास उससे अवगत होने के लिए समय भी नहीं है, उसका कोई स्थान नहीं है, कोई महत्त्व नहीं है, क्योंकि सचमुच, शाश्वतता में एक सेकेण्ड क्या है? अगर तुम इसे समझ सको...इसे कैसे कहा जाये?... अगर तुम यह देख सको, अगर अपने अन्दर यह चित्र बना सको कि इस छोटी-सी धरती पर तुम कितने छोटे-से व्यक्ति हो, और चेतना का वह ज़रा-सा सेकेण्ड, जो इस समय तुम्हें कष्ट दे रहा है, या इतना अप्रिय हो रहा है—बस, यही, जो तुम्हारे अपने जीवन में बस, एक सेकेण्डमात्र है; तुम स्वयं पहले बहुत-सी चीज़ें रह चुके हो,

और बहुत-सी चीज़ें भविष्य में बनोगे, और अभी जिस चीज़ का इतना असर हो रहा है, उसे सम्भवतः तुम अगले दस वर्षों में पूरी तरह भूल जाओगे, और अगर तुम्हें इसकी याद रही भी तो तुम कहोगे: "मैंने इसे कोई महत्त्व कैसे दे दिया था?"... अगर तुम पहले इस चीज़ का अनुभव कर सको, और फिर, यह देखो कि तुम्हारा अपना छोटा-सा व्यक्तित्व, जो शाश्वतता में एक सेकेण्ड या एक सेकेण्ड के बराबर भी नहीं है, समझे, लगभग अदृश्य, शाश्वतता में एक सेकेण्ड का भाग भी नहीं, इससे पहले एक पूरा जगत् फैलता रहा है और इसके बाद भी फैलेगा, अनिश्चित काल तक—सामने, पीछे—और... तो अचानक तुम्हें पता लगता है कि तुम्हारे साथ जो हुआ था उसे इतना अधिक महत्त्व देना कितना हास्यास्पद है...। **सचमुच** तुम्हें लगता है... कि अपने जीवन को, अपने-आपको या अपने साथ बीती बातों को महत्त्व देना कितना निरर्थक है। और अगर तीन मिनट के अन्दर-अन्दर तुम इसे ठीक तरह कर सको तो सारी अप्रियता दूर हो सकती है, गहरी पीड़ा भी दूर हो सकती है। सिर्फ़ इस तरह की एकाग्रता, और अपने-आपको अनन्तता और शाश्वतता में रखना। सब कुछ चला जाता है। तुम उसमें से शुद्ध होकर निकलते हो। तुम इस तरह **सब** आसक्तियों से भी पिण्ड छुड़ा सकते हो, यहाँ तक कि मैं कहती हूँ, गहरे-से-गहरे दुःख से भी—इसी तरह हर चीज़ से मुक्त हो सकते हो—अगर तुम इसे ठीक तरह करना जानो। यह तुम्हें तुरन्त अपने छोटे-से अहंकार में से बाहर ले आता है। —'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. ३८९-९१

अपने निश्चय को दृढ़ बनाना

मधुर माँ, हम अपने निश्चय को बहुत दृढ़ कैसे बना सकते हैं?

यह चाहने से कि वह बहुत दृढ़ हो! *(हँसी)*

नहीं, यह मज़ाक-सा लगता है... पर है यह एकदम सच। व्यक्ति सचमुच चाहता नहीं। हमेशा ही, अगर तुम...। यह सच्चाई का अभाव है। अगर तुम सच्चाई से देखो, तो यही पाओगे कि तुमने निश्चय कर लिया है कि यह ऐसा होगा, लेकिन नीचे एक चीज़ है जिसने यह निश्चय बिलकुल नहीं किया है और वह ऊपर उछल आने के लिए तुम्हारी क्षण-भर की हिचकिचाहट की प्रतीक्षा कर रही है। अगर तुम सच्चे हो, अगर तुम

निष्कपट हो और उस भाग को पकड़ लो जो छिपा हुआ है, प्रतीक्षा में है, जो अपने-आपको दिखाता नहीं, जो यह जानता है कि अनिश्चय का एक ऐसा क्षण होगा जब वह बाहर झपट सकेगा और तुमसे वही चीज़ करवा लेगा जिसे न करने का तुमने निश्चय किया है...।

लेकिन अगर **सचमुच** तुम उसे चाहते हो, तो दुनिया की **कोई भी चीज़** तुम्हें उस चीज़ को करने से नहीं रोक सकती जिसे तुम करना चाहते हो। यह इसलिए होता है कि तुम जानते नहीं कि संकल्प कैसे करना चाहिये। यह इसलिए होता है क्योंकि तुम अपनी इच्छा में **बँटे हुए** होते हो। अगर तुम अपनी इच्छा में बँटे हुए न होओ तो मैं कहती हूँ, दुनिया-भर में कोई चीज़, कोई व्यक्ति तुमसे तुम्हारी इच्छा नहीं बदलवा सकता।

लेकिन, तुम इच्छा या संकल्प करना ही नहीं जानते। तथ्य तो यह है कि तुम चाहते ही नहीं। ये दुर्बल आकांक्षाएँ हैं: "हाँ, तो ऐसा है...। अगर यह वैसा होता तो अच्छा रहता... हाँ, अगर ऐसा होता तो ज़्यादा अच्छा रहता... हाँ, ऐसा होना ज़्यादा अच्छा होता यदि यह वैसा होता।" **यह** संकल्प करना नहीं है। और हमेशा इसके पीछे कहीं, दिमाग के किसी कोने में से कोई चीज़ झाँकती और कहती है: "मैं क्यों ऐसा चाहूँ भला? आख़िर, हम इसका उलटा भी चाह सकते हैं।" और फिर, कोशिश करना। इस तरह नहीं, ज़रा रुको...। तुम हमेशा इससे उलटा करने के लिए हज़ारों बहाने निकाल सकते हो।

और हाँ, बस ज़रा-सी हिचकिचाहट काफ़ी है... फट्ट... चीज़ नीचे झपट पड़ती है, और सब ख़तम। लेकिन अगर तुम **संकल्प करो**, अगर तुम सचमुच **जानो** कि **यही** चीज़ है, और सचमुच उसी को चाहो, और अगर तुम **स्वयं** पूरी तरह से इस संकल्प पर एकाग्र होओ, तो मैं कहती हूँ, दुनिया की **कोई भी चीज़** तुम्हें उसे करने से न रोक सकेगी, उसे करने से या उसे करने के लिए बाधित होने से। यह इस पर निर्भर करता है कि वह क्या है।

व्यक्ति चाहता है। हाँ, व्यक्ति चाहता है, इस तरह *(संकेत)*। व्यक्ति चाहता है: "हाँ, हाँ, अगर ऐसा होता तो ज़्यादा अच्छा होता। हाँ, यह ज़्यादा सुन्दर होता, ज़्यादा ललित होता।"... लेकिन आख़िर व्यक्ति एक दुर्बल प्राणी है, क्या ऐसा नहीं है? और फिर वह हमेशा किसी और को

दोष दे सकता है : "हाँ, यह बाहर से आने वाला प्रभाव है, यह सब तरह की परिस्थितियों के कारण है।"

एक साँस गुज़र गयी। तुम नहीं जानते... कोई चीज़... एक क्षण-भर की निश्चेतना... "ओह, मैं सचेतन नहीं था।"

तुम सचेतन नहीं हो क्योंकि तुम स्वीकार नहीं करते...। और यह सब इसलिए कि तुम संकल्प करना नहीं जानते।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. ३९२-९३

अपनी सत्ता को एक करना

संकल्प करना सीखना बहुत ज़रूरी चीज़ है। और सचमुच संकल्प करने के लिए तुम्हें अपनी सत्ता को एक बनाना होगा। वास्तव में, एक सत्ता होने के लिए, पहले तुम्हें अपने-आपको एक करना चाहिये। अगर तुम एकदम विरोधी प्रवृत्तियों के द्वारा खींचे जाओ, अगर तुम अपने जीवन का तीन-चौथाई भाग अपने बारे में सचेतन हुए बिना, जो तुम करते हो उसके कारणों को जाने बिना बिताओ तो क्या तुम एक वास्तविक सत्ता हो? तब तुम्हारा अस्तित्व नहीं होता। तुम प्रभावों, गतिविधियों, शक्तियों, क्रियाओं, प्रतिक्रियाओं के पुञ्ज होते हो, एक सत्ता नहीं। तुम सत्ता तब बनना शुरू करते हो जब तुम्हारे अन्दर संकल्प होना शुरू हो।

और संकल्प तब तक नहीं हो सकता जब तक कि तुम एक न हो जाओ। और जब तुम्हारे अन्दर संकल्प हो तो तुम कह सकोगे, तुम भगवान् से कह सकोगे : "मैं वही चाहता हूँ जो तुम चाहो।" उससे पहले नहीं। क्योंकि वही चाहने के लिए जो भगवान् चाहते हैं, तुम्हारे अन्दर संकल्प होना चाहिये, अन्यथा तुम किसी चीज़ के लिए संकल्प नहीं कर सकते। तुम चाहोगे। तुम बहुत अधिक चाहोगे। तुम बहुत अधिक चाहोगे कि वही चाहो जो भगवान् चाहते हैं। तुम्हारे पास संकल्प नहीं है जिसे तुम 'उन्हें' दे सको, 'उनकी' सेवा में लगा सको। कुछ इस तरह की चीज़, लिजलिजी-सी, जेलीफ़िश के जैसी... वहाँ... शुभेच्छाओं का ढेर—और मैं ज़्यादा अच्छे पक्ष की सोच रही हूँ और दुर्भावनाओं को भुला रही हूँ—सदिच्छाओं का अर्धचेतन, लड़खड़ाता हुआ ढेर...

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. ३९३-९४

दो चीज़ें जो हमें सबसे अधिक तैयार करती हैं

दो मुख्य चीज़ें हैं। उत्साह के लिए यह क्षमता जो मनुष्य को उसकी कम या अधिक जड़ता में से बाहर निकाल लाती है ताकि वह अपने-आपको अधिक या कम पूर्णता के साथ उस चीज़ में झोंक सके जो उसे जगाती है। उदाहरण के लिए, कलाकार अपनी कला के लिए, वैज्ञानिक अपने विज्ञान के लिए। और सामान्यतः, हर ऐसे व्यक्ति में जो निर्माण करता या सृजन करता है, एक-न-एक उद्‌घाटन होता है, किसी विशेष क्षमता का, किसी विशेष सम्भावना का उद्‌घाटन जो उसमें उत्साह पैदा करता है। जब यह सक्रिय हो तो सत्ता के अन्दर कोई चीज़ जाग जाती है, और की जाने वाली चीज़ में लगभग सारी सत्ता का सहयोग मिलता है।

यह बात है। और फिर कुछ ऐसे लोग होते हैं जिनमें कृतज्ञता की सहज क्षमता होती है, जिनमें प्रत्युत्तर देने की आतुरता होती है, जो किसी ऐसी चीज़ के प्रति, जिसे वे समस्त जीवन के पीछे, छोटे-से-छोटे तत्त्व के पीछे, जीवन की छोटी-से-छोटी घटना के पीछे छिपी अद्‌भुत वस्तु के रूप में अनुभव करते हैं और उसे ऊष्मा, निष्ठा और आनन्द के साथ प्रत्युत्तर देते हैं। वे सभी चीज़ों के पीछे परम सौन्दर्य या अनन्त 'कृपा' का अनुभव करते हैं।

मैंने ऐसे लोग देखे हैं जिन्हें, हम कह सकते हैं, किसी चीज़ का कोई ज्ञान न था, जो शायद ही कुछ पढ़े-लिखे थे, जिनके मानस बिलकुल सामान्य प्रकार के थे, और जिनमें कृतज्ञता की, ऊष्मा की यह क्षमता थी जो अपने-आपको दे देती है, समझती है और कृतज्ञ होती है। हाँ तो, उनमें उनकी योग्यता के अनुसार, लगभग निरन्तर चैत्य सम्पर्क होता था —बहुत अधिक नहीं, कुछ-कुछ सचेतन सम्पर्क, यानी, वे अनुभव करते थे कि उन्हें ले जाया जा रहा है, सहायता दी जा रही है, उन्हें उनसे ऊपर उठाया जा रहा है।

ये दो चीज़ें लोगों को सबसे अधिक तैयार करती हैं। वे इन दोनों में से किसी एक या दूसरी को लेकर पैदा होते हैं; और अगर वे ज़रा कष्ट उठायें, तो यह चीज़ धीरे-धीरे विकसित होती है, बढ़ती है।

हम कहते हैं कि उत्साह की क्षमता एक ऐसी चीज़ है जो तुम्हें तुम्हारे दरिद्र, क्षुद्र, नीच अहंकार से ऊपर उठा देती है; और उदारतापूर्ण कृतज्ञता,

कृतज्ञता की उदारता जो अपने-आपको धन्यवाद-ज्ञापन में छोटे-से अहंकार में से बाहर निकाल देती है। अपनी चैत्य सत्ता में भगवान् के साथ सम्पर्क पाने के लिए ये दो सबसे अधिक शक्तिशाली उत्तोलक हैं। यह चैत्य सत्ता के साथ जोड़ने वाली कड़ी का काम देती है—सबसे अधिक निश्चित कड़ी का।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ७, पृ. ४६०-६१

मानव जीवन का उद्देश्य

मानव जीवन का उद्देश्य है 'उसके' बारे में सचेतन होना। उसका हेतु है 'उसे' अभिव्यक्त करना। सभी धर्म, सभी सन्तों की शिक्षा इस लक्ष्य तक पहुँचने के उपायों से भिन्न कुछ नहीं है।

उन्हें तीन मुख्य श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। पहली—बौद्धिक उपाय : 'सत्य' के लिए प्रेम, 'निरपेक्ष' की खोज।

विवेक, अध्ययन, मनन-चिन्तन, विश्लेषण, विचार के संयम और एकाग्रता के द्वारा तुम व्यक्तित्व के भ्रम से छुटकारा पा जाते हो। वह है एक ही द्रव्य में—जो अपने-आपमें एक आभास से बढ़ कर कुछ नहीं है, चक्कर लगाते हुए परमाणु : 'ईथर' या आकाश का घन रूप।

जब हम **मैं** कहते हैं तो हम किसकी बात करते हैं? शरीर की? संवेदनों की? भावनाओं की? विचारों की? इनमें से किसी में स्थिरता नहीं है। सातत्य का आभास एक कठोर नियति से आता है जो सत्ता के हर एक क्षेत्र पर लागू होता है। और इस नियति में जितने आन्तरिक कारण होते हैं उतने ही बाह्य कारण भी घुस आते हैं। तब फिर 'स्व' कहाँ है? यानी, कोई स्थायी, निरन्तर, हमेशा एकरस तत्त्व कहाँ है? उसे पाने के लिए, इस निरपेक्ष को पाने के लिए हमें गहराई से गहराई की ओर, सापेक्षता से सापेक्षता की ओर बढ़ना चाहिये। क्योंकि जो कुछ रूप धारण किये हुए है वह सापेक्ष है जब तक कि हम 'वहाँ' नहीं पहुँच जाते जो हमारी तर्क-बुद्धि के लिए 'अचिन्त्य', हमारी वाणी के लिए 'अकथ्य' है, पर तादात्म्य के द्वारा ज्ञेय है—क्योंकि हम 'उसे' अपने अन्दर लिये रहते हैं, वह **हमारी** सत्ता का केन्द्र और उसका जीवन है।

दूसरा तरीक़ा—भगवान् का प्रेम। यह उन लोगों का तरीक़ा है जिनमें विकसित धार्मिक भाव है।

सभी चीज़ों के भागवत 'सारतत्त्व' के लिए अभीप्सा, जिसे हमने सम्पूर्ण प्रदीप्ति के क्षणों में देखा है।

और तब इस भागवत 'सारतत्त्व' के प्रति आत्म-निवेदन, इस 'शाश्वत विधान' के प्रति हर क्षण, अपनी हर क्रिया में समग्र आत्म-दान।

सम्पूर्ण समर्पण : अब व्यक्ति केवल एक विनीत यन्त्र, 'परम प्रभु' के सामने एक आज्ञाकारी सेवक रह जाता है। 'प्रेम' इतना पूर्ण हो जाता है कि वह उस सबसे अनासक्ति पैदा कर देता है जो 'निरपेक्ष ब्रह्म नहीं है', 'उन' पर पूर्ण एकाग्र नहीं है।

"और इसके अतिरिक्त, इससे भी ऊपर उठना असम्भव नहीं है क्योंकि स्वयं प्रेम भी प्रेमी और प्रेमपात्र के बीच अवगुण्ठन बन जाता है।" तादात्म्य।

तीसरा उपाय—मानवजाति के लिए प्रेम।

मानवजाति के अत्यधिक दुःख-दर्द के तीव्र प्रत्यक्ष ज्ञान के और एक स्पष्ट दृष्टि के परिणामस्वरूप इस दुःख-दर्द को समाप्त कर देने के लिए अपने-आपको पूरी तरह समर्पित कर देने का संकल्प उठता है।

चाहे कितनी भी कम मात्रा में क्यों न हो, औरों की सहायता करने के लिए अपने समस्त विचार, अपनी समस्त शक्ति, अपने सारे क्रिया-कलाप अर्पित कर देने में आत्म-विस्मृति।

"करुणा से उमड़ते हृदयों के साथ दुःख-पीड़ित संसार में जाओ, प्रशिक्षक बनो, जहाँ कहीं अविद्या-अन्धकार का राज्य है वहाँ ज्योति जगाओ।"

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड २, पृ. १४५-४७

दो समान्तर गतियाँ

व्यक्ति के विकास में दो समानान्तर गतियाँ होनी चाहियें और चूँकि वह साधारणतः इन दो में से केवल एक पर एकाग्र होने के लिए दूसरी की उपेक्षा करता है इसलिए उसकी प्रगति इतनी रुकती हुई और असन्तुलित होती है।

इन गतियों में से एक है अपनी सत्ता के सभी संघटक तत्त्वों के बारे में सचेतन होना। भौतिक और संवेदी, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक तत्त्वों के बारे में सचेतन होना। हमें अपने अन्दर के जीवन की बनावट से, उसकी सभी प्रवृत्तियों, उसके गुणों, उसकी क्षमताओं और विभिन्न गतियों के साथ

बहुत निष्पक्ष रीति से परिचित होना चाहिये, अर्थात्, भले-बुरे के किसी भी पूर्व-निर्धारित विचार के बिना, क्या बच रहना चाहिये और किसे ग़ायब हो जाना चाहिये, किसे प्रोत्साहित करना और किसे दबा देना चाहिये, के बारे में किसी निरपेक्ष या मनमाने निर्णय के बिना (क्योंकि हमारे निर्णय अनिवार्य रूप से स्पष्ट दृष्टि से रहित होते हैं) परिचित होना चाहिये। हम क्या हैं इसके बारे में हमारी दृष्टि वस्तुनिष्ठ और पक्षपातहीन होनी चाहिये, अगर हम चाहते हैं कि वह सच्ची और सम्पूर्ण हो। हम एक ऐसे जगत् के सामने खड़े हैं जिसका हमें छोटे-से-छोटे ब्योरे में अन्वेषण करना है, एक पूर्णतः मानसिक निर्वैयक्तिक वैज्ञानिक वृत्ति के साथ, अर्थात्, बिना किसी पूर्व निर्णय के उसे अधिक-से-अधिक अस्पष्ट और छोटे-से-छोटे तत्त्व में भी जानना है।

हम चाहे जो भी सोचें, अवलोकन, विश्लेषण और निरीक्षण का यह काम कभी पूरा नहीं होता। हर हालत में, हम जब तक धरती पर, भौतिक शरीर में हैं, तब तक हमें सदा इस अत्यधिक जटिल सत्ता का, यानी, अपना अध्ययन करना चाहिये ताकि कोई भी तत्त्व हमारे ज्ञान और इस कारण हमारे अधिकार से बच न निकले। **हम उसी चीज़ को वश में कर सकते हैं जिसे हम जानते हैं और उसी पर प्रभुत्व पा सकते हैं जो हमारे वश में है।**

अब हम दूसरी गति पर आते हैं जो पहली के साथ-ही-साथ और उसके समानान्तर रहनी चाहिये। यह है निवेदन, जो कुछ हमारे अधिकार में हो उसका परम प्रभु और भागवत विधान के प्रति निरन्तर, और निरन्तर रूप से दोहराया जाने वाला समर्पण। प्रत्येक तत्त्व जो अपने बारे में सचेतन हो गया है, हर वृत्ति, हर क्षमता को 'सत्ता के शाश्वत सारतत्त्व' के 'परम मार्ग-दर्शन' के प्रति एक बच्चे के सरल विश्वास के साथ समर्पित होना चाहिये। वही मार्ग-दर्शन इन सब तत्त्वों की व्यवस्था और वर्गीकरण करेगा और इनका उचित रूप से उपयोग करेगा। वही और केवल वही उन चीज़ों को अलग कर सकता है जो उपयोग में आ सकती हैं और नहीं आ सकतीं, जिन्हें प्रोत्साहन देना चाहिये और जिन्हें अलग कर देना चाहिये। और निस्सन्देह, उसके सामने हर चीज़ का मूल्य एक समान है, हर चीज़ का उपयोग हो सकता है क्योंकि उसके संकल्प से सब कुछ बदल सकता

है, प्रकाशमान और रूपान्तरित हो सकता है : जो कुछ उस दिव्य शक्ति के बारे में सचेतन हो जाता है और अपने-आपको 'उसके' अर्पण कर देता है, 'वही' बन जाता है और इस तरह शुभ-अशुभ की सभी धारणाओं से बच निकलता है जो निरी बाह्य और मानवीय हैं।

इन गतियों में से एक गति, इन वृत्तियों में से एक वृत्ति दूसरी के बिना अपूर्ण और एकपक्षीय है। अपनी सत्ता को परम तत्त्व पर पूरी तरह एकाग्र करना पर्याप्त नहीं है। इस तरह के सब तत्त्व, जिन्हें हम नहीं जानते और जिन्हें हमने वश में नहीं किया है, इस निवेदन से बच निकलते हैं और इस तरह शाश्वत विधान के अनुसार चलने की जगह, अपना ही विधान अपनाते हैं और ऐसे व्यक्ति में हर प्रकार की अव्यवस्था, हर प्रकार के अप्रत्याशित विद्रोह का स्रोत बनते हैं जिसने अपने-आपको पूरी तरह भागवत विधान का सेवक माना था। लेकिन वह अपनी सत्ता के उन अज्ञात कोनों को भूल गया था जिन्हें जीवन और क्रियाशीलता पर उतना ही अधिकार है, वे भी अपनी बारी आने पर अभिव्यक्त होते हैं। वे चूँकि केन्द्रीय संकल्प से बच निकलते हैं इसलिए उनकी क्रियाशीलता समस्त सत्ता की तुलना में अव्यवस्थित और समन्वयहीन होती है।

इसके विपरीत, अपने छोटे-से-छोटे ब्योरे में भी अपने बारे में सचेतन होना व्यर्थ और निष्फल है, बल्कि ख़तरनाक है यदि यह ऐसी व्यवस्था के लिए न किया जाये जिससे 'भागवत सारतत्त्व' इन सब तत्त्वों का सर्वसमर्थ शासक बन सके, अगर हम उनका भगवती के चरम मार्ग-दर्शन और परम विधान के प्रति निष्कपट और अबाध समर्पण न प्राप्त कर सकें।

इन दोनों वृत्तियों का सन्तुलित ऐक्य होने पर ही मनुष्य अपने-आपको शाश्वत का सच्चा और सम्पूर्ण 'सेवक' कह सकता है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड २, पृ. १४८-५०

मार्ग का उद्देश्य और पुकार

क्या आप हमें योग के बारे में कुछ बतायेंगी?

तुम योग-साधना किसलिए करना चाहते हो? शक्ति प्राप्त करने के लिए? शान्ति और स्थिरता की प्राप्ति के लिए? मानवजाति की सेवा के लिए? इनमें से कोई भी उद्देश्य यह बताने के लिए काफ़ी नहीं है कि तुम

इस योग-मार्ग के लिए हो।

तुम्हें जिस प्रश्न का उत्तर देना है वह यह है : क्या तुम भगवान् के लिए योग-साधना करना चाहते हो? क्या भगवान् ही तुम्हारे जीवन के परम सत्य हैं, यहाँ तक कि तुम उनके बिना रह ही नहीं सकते? क्या तुम यह अनुभव करते हो कि तुम्हारे जीवन का एकमात्र उद्देश्य भगवान् ही हैं और उनके बिना तुम्हारे जीवन का कोई अर्थ नहीं है? यदि ऐसा हो तभी कहा जा सकता है कि तुम्हारे अन्दर योग-मार्ग के लिए पुकार है।

सबसे पहली आवश्यक चीज़ है भगवान् के लिए अभीप्सा।

और दूसरी बात है इस अभीप्सा को सतत बनाये रखना, उसे सदा जीवन्त, ज्वलन्त और जाग्रत् रखना। और इसके लिए जिस बात की आवश्यकता है वह है एकाग्रता—भगवान् पर एकाग्रता जो उनके 'संकल्प' और 'अभिप्राय' के प्रति पूर्ण और निरपेक्ष आत्म-समर्पण के भाव से की गयी हो।

हृदय-केन्द्र में अपने-आपको एकाग्र करो। हृदय में प्रवेश करो, उसके अन्दर जाओ, उसकी गहराई में उतरो और दूर तक, जितनी दूर तक तुम जा सको, जाओ। अपनी चेतना के बाहर बिखरे हुए सभी धागों को एकत्र कर लो, उन्हें समेट कर अन्दर डुबकी लगाओ और तह में जाकर बैठ जाओ।

वहाँ, हृदय की गभीर शान्ति में एक अग्नि धधक रही है। यही है तुम्हारे अन्तर में रहने वाले भगवान् का दिव्य अंश—तुम्हारी सत्य सत्ता (हृत्पुरुष)। इसकी आवाज़ सुनो और इसके आदेश का पालन करो।

एकाग्रता के लिए दूसरे केन्द्र भी हैं, उदाहरणस्वरूप, एक केन्द्र मस्तिष्क के ऊपर है (सहस्रार), दूसरा भ्रू-मध्य में है (आज्ञा)। इनमें से हर एक का अपना प्रभाव है और हर एक किसी परिणाम पर पहुँचता है। परन्तु केन्द्रीय पुरुष का स्थान हृदय है और हृदय से ही सब केन्द्रीय प्रवृत्तियाँ निकलती हैं—यहीं से रूपान्तर के लिए समस्त गतिशीलता और लगन एवं आत्मदर्शन करने की शक्ति निकलती है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. ३-४

योग-साधना के दो मार्ग

योग-साधना के दो मार्ग हैं, एक है तपस्या का और दूसरा है समर्पण का। तपस्या का मार्ग दुष्कर है, इस मार्ग में तुम सर्वथा अपने ऊपर ही

निर्भर रहते हो, अपने निजी सामर्थ्य से ही आगे बढ़ते हो। तुम अपनी शक्ति के अनुपात में ही ऊँचे उठते हो और उसी के अनुसार फल पाते हो। इस मार्ग में नीचे गिरने का भय हमेशा लगा रहता है। और एक बार गिरे तो तुम गहरी खाई में जाकर चूर-चूर हो जाओगे और इसका इलाज शायद ही हो सके। परन्तु दूसरा मार्ग, समर्पण का मार्ग, निरापद और निश्चित है। परन्तु पश्चिमवालों को इसमें कठिनाई होती है। उन्हें यह शिक्षा मिली है कि वे उन सभी चीज़ों से डरें और बचें जो उनकी व्यक्तिगत स्वाधीनता पर आँच लायें। व्यक्तित्व की भावना उनकी घुट्टी में मिली होती है। और समर्पण का अर्थ है इस सबका त्याग। दूसरे शब्दों में, जैसा श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, तुम बन्दर के बच्चे और बिल्ली के बच्चे, इन दोनों में से किसी एक के मार्ग का अनुसरण कर सकते हो। बन्दर के बच्चे को इधर-उधर ले जाये जाने के लिए अपनी माँ की छाती से चिपक जाना पड़ता है, उसे अपनी माँ को कस कर पकड़े रहना पड़ता है और यदि कहीं उसकी मुट्ठी ढीली हो जाये तो वह गिर जाता है। दूसरी ओर, बिल्ली का बच्चा अपनी माँ को नहीं पकड़ता, बल्कि माँ ही उसे पकड़े रखती है, इसलिए उसे न कोई भय होता है न उत्तरदायित्व; उसे तो केवल इतना ही करना पड़ता है कि अपनी माता को पकड़ने दे और "माँ-माँ" करता रहे।

इस समर्पण-मार्ग को यदि तुम पूर्ण रूप से और सच्चाई के साथ अपना लो तो कोई गम्भीर कठिनाई या कोई ख़तरा नहीं रहता। प्रश्न केवल सच्चाई का है। यदि तुम सच्चे नहीं हो तो योग-साधना आरम्भ मत करो। मानवीय विषयों में धोखा-धड़ी चल सकती है, किन्तु भगवान् के साथ व्यवहार करने में धोखे के लिए कोई स्थान नहीं है। तुम इस मार्ग पर तभी निरापद होकर यात्रा कर सकते हो जब तुम ऋजु, निष्कपट तथा रोम-रोम तक में खुले हुए हो, जब तुम्हारा एकमात्र ध्येय भगवान् का साक्षात्कार करना, उन्हें पाना और उनके द्वारा परिचालित होना हो।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. ६-७

सच्चा समर्पण हमारा विस्तार करता है, हमारी क्षमता बढ़ाता है, हमें गुण और मात्रा में अधिक सामर्थ्य प्रदान करता है जिसे हम अपने-आप नहीं पा सकते। *—श्रीमाँ*

'पुरोधा' :

दैनन्दिनी

मार्च

१. जब तुम पूरी तरह से अचञ्चल और भयहीन होते हो तो कोई चिन्ताजनक चीज़ नहीं हो सकती।

२. अन्ततः, छोटी-मोटी सतही चीज़ों का कोई महत्त्व नहीं होता यदि इनकी तुलना उस लक्ष्य से की जाये जिसे धरती पर चरितार्थ करना है।

३. अगर चीज़ें वैसी नहीं हैं जैसी होनी चाहियें तो चिन्ता उन्हें अधिक अच्छा बनाने में सहायता नहीं करती। अचञ्चल विश्वास बल का स्रोत है।

४. जब 'कृपा' और दिव्य माँ की सुरक्षा तुम्हारे साथ हों तो कौन-सी चीज़ भला तुम्हारा स्पर्श कर सकती है या किस व्यक्ति से भला तुम भय खाओगे।

५. हमें सभी सन्देहों से पिण्ड छुड़ाने का निश्चय कर लेना चाहिये। ये हमारी प्रगति के मार्ग में सबसे बुरे शत्रु होते हैं।

६. क्रोध से दूर रहो... यह **केवल** तुम्हें ही हानि पहुँचाता है। अगर तुम सही हो तो नाराज़ होने की कोई ज़रूरत नहीं। अगर तुम ग़लत हो तो नाराज़ होने का तुम्हें कोई हक नहीं।

७. सच्चाई के साथ प्रगति करो और धैर्य के साथ अपने प्रयास के लिए प्रतीक्षा करना जानो।

८. यदि मन सभी परिस्थितियों और सभी हालतों में शान्त रहे तो धैर्य अधिक आसानी से बढ़ेगा।

९. वीरता है, हमेशा वही करना जो सबसे सुन्दर और सबसे उदात्त है। और हमेशा अपनी उच्चतम चेतना से कार्य करना।

१०. सच्चा साहस है, अपने दोषों को पहचान लेना। सदा सत्यवादी बने रहने से बड़ा और कोई साहस नहीं है।

११. मधुरता बिना शोर मचाये जीवन में मुस्कान ले आती है।

१२. प्रसन्नता भी उतनी ही संक्रामक है जितनी उदासी—इससे ज़्यादा उपयोगी और कुछ नहीं हो सकता कि तुम लोगों को सच्ची और

गहरी प्रसन्नता बाँटते रहो।

१३. हमेशा अच्छे बने रहो और तुम हमेशा प्रसन्न रहोगे।

१४. सारी गड़बड़ सन्तुलन के अभाव से आती है।
अतः, हम हमेशा, हर परिस्थिति में, सावधानी के साथ अपना सन्तुलन बनाये रखें।

१५. निश्चय ही हमें हमेशा शान्ति और सामञ्जस्य की चाह करनी चाहिये और जितना हो सके उसके लिए काम करना चाहिये—लेकिन उसके लिए हमारे अपने अन्दर का कार्यक्षेत्र सबसे ज़्यादा अच्छा है।

१६. आओ, हम अपने मिथ्यात्व को भगवान् को सौंप दे ताकि वे उसे आनन्दमय सत्य में बदल दें।
हमेशा सच बोलना उदात्तता की सबसे बड़ी उपलब्धि है।

१७. सन्तुष्टि बाहरी परिस्थितियों पर नहीं, बल्कि आन्तरिक स्थिति पर निर्भर करती है।

१८. "साधना" करते समय बाह्य चीज़ों का बहुत महत्त्व नहीं होना चाहिये। आवश्यक आन्तरिक शान्ति हर तरह की परिस्थिति में स्थापित हो सकती है।

१९. मुझे हमेशा एक ही बात कहनी होती है : कठिनाइयों से बाहर आने का बस एक ही उपाय है, शान्त विश्वास और साहस।

२०. एक ख़तरनाक रोग है—आलस्य।

२१. तुम ध्यान के द्वारा प्रगति कर सकते हो, लेकिन उचित भाव से किये गये कर्म के द्वारा दसगुनी अधिक प्रगति हो सकती है।

२२. जब तुम भगवान् के लिए कार्य करते हो तो ज़्यादा अच्छा है कि किसी बड़े काम को लक्ष्य बनाने की जगह तुम जो करते हो उसे पूर्णता के साथ करो।

२३. जितना कम हो सके उतना कम बोलो।
जितना अधिक हो सके उतना अधिक काम करो।

२४. प्रश्न : माँ, मैं अपनी चीज़ें क्यों खोता रहता हूँ?
उत्तर : क्योंकि तुम चीज़ों को पर्याप्त रूप में **अपनी चेतना में नहीं रखते**।

२५. स्वास्थ्य : हमेशा उसी में न लगे रहना, बल्कि उसे पूरी तरह भगवान्

के हाथों में छोड़ देना।

२६. भोजन के लोभ पर विजय : अच्छे स्वास्थ्य के लिए प्रतिज्ञा।

२७. शान्ति और नीरवता रोग के महान् उपचार हैं।
जब हम कोषाणुओं में शान्ति ला सकेंगे तब रोगमुक्त हो जायेंगे।

२८. मन की **नीरवता** का अभ्यास करो। इससे समझने की क्षमता आती है।

२९. मेरा सुझाव है कि हम वही करते चलें जो सही और उचित है। भविष्य के बारे में ज़्यादा चिन्ता न करो। भविष्य को भागवत कृपा के हाथ में छोड़ दो।

३०. बाहर के सारे शोर-गुल को चुप कर दो, भागवत सहायता के लिए अभीप्सा करो, जब वह आये तो अपने-आपको उसके प्रति पूरी तरह से खोल दो और उसकी क्रिया के प्रति समर्पित हो जाओ, और वह प्रभावशाली ढंग से तुम्हारा रूपान्तर ले आयेगी।

३१. जो रूपान्तर के लिए तैयार हैं वे उसे किसी भी जगह कर सकते हैं। और जो तैयार नहीं हैं वे जहाँ कहीं भी हों नहीं कर सकते।

सारे शब्द गूँगे हो गये

(संस्मरण)

कलकत्ते पहुँची तो स्टेशन पर ही माँ ने एक ख़ुशख़बरी सुना दी—बेटी, तेरे लक्खो दादा की बिटिया मुनिया की शादी है परसों, यहीं सियालदाह में।

मैं चहक उठी, लक्खो दादा यानी हमारा पुराना नौकर। वाह मम्मी, वाह, एक अरसे के बाद देखूँगी दादा को।

हाँ बेटी, १६, १७ साल तो हो गये होंगे। शायद उसे पता लग गया कि हमारा तबादला फिर से कलकत्ते हो गया है, अभी कल ही तो कार्ड आया है।

सारी सुबह हमारे यहाँ चर्चा का विषय लक्खो दादा ही बने रहे। दोपहर के खाने के बाद पापा का बचपन से सुना आ रहा वाक्य कानों में गूँज उठा, 'वाह, आज तो खाने में भगवान् मिल गये, अन्न का सन्न चढ़ गया हमारे ऊपर तो।' इसका सीधा-सा मतलब था कि दुपहरी भर चादर तान कर सोया जाये।

पाँचेक मिनट में सारा घर खर्राटें भरने लगा, एक जग रही थी तो मैं। और तभी बचपन का वह चित्र अपने चटक रूप-रंगों में मेरी आँखों के सामने सजीव हो उठा—छुट्टी के दिन पापा खाने के बाद हम बच्चों को ठोक-पीट कर सुलाने की कोशिश करते, दो-चार मिनट में बाक़ी सब तो सो जाते और मैं दबे पाँव चादर से निकल कर लक्खो दादा के साथ सारी दोपहर धमा-चौकड़ी मचाती, जिसका शोर-गुल आज कानों के पास आता जा रहा है—

—अरे बिटिया, आज तू फिर भाग आयी। देख, मुझे तो अभी ढेरों काम समेटने हैं, अमला दी भी नहीं आयीं, बर्तन भी बाक़ी हैं, ऐसा कर, आध घण्टा सो के आ जा, फिर हम बग़ीचे में लुका-छिपी खेलेंगे।

और मैं ऐसी आग बरसाती नज़रों से दादा को देखती कि वह ३०, ३५ साल का मुच्छैल गबरू जवान, ८, ९ साल की दुबली-पतली बच्ची के सामने भीगी बिल्ली-सा बन जाता—अरे रे रे बिटिया, नाराज़ काहे होती हो, खेलने को मना थोड़े ही किया, बस काम समेट कर अभी चलते हैं।

बिटिया ज़रा नरम पड़ जातीं, तना हुआ चेहरा ख़ुद-ब-ख़ुद ढीला पड़ जाता, लेकिन बनावटी ग़ुस्सा दिखातीं—तो फिर समेटो न काम, खड़े-खड़े बतिया क्यों रहे हो?

—लो, यह तो उलटा चोर कोतवाल को डाँटे सरीखी बात कर रही हो तुम, और वे दाँतों से जीभ काट झटपट बर्तन माँजने में जुट जाते।

और मैं मन्त्रमुग्ध हो देखती—हाथ मशीन की तेज़ी से चल रहे हैं, बीच-बीच में होंठ किसी भजन की दो-चार लड़ियाँ गुनगुना उठते हैं, उधर चूल्हे पर चढ़ी दाल पर भी नज़र है कि कहीं लग न जाये। लेकिन इन सबके बीच अपनी 'बिटिया रानी' की ओर देख कर मुस्कुराना नहीं भूलते दादा।

और फिर 'हाथी घोड़ा पालकी, जय कन्हैया लाल की' कहते-कहते मुझे कन्धे पर बिठा कर उड़न छू हो जाते बग़ीचे में जहाँ हम स्वयं-रचित, स्वयं-अन्वेषित न जाने कितने-कितने खेल खेलते। हाँ, कभी किसी खेल में दो से अधिक की ज़रूरत पड़ जाती तो मेरा 'झाड़ू की सींक-अभियान' शुरू होता। यानी, अपनी तीनों बहनों के पास जाकर नाक-कान में सींक से फुरहरी कर उन्हें जगाना और उठते ही उलाहना देना—क्या भैंस की तरह पड़ी सो रही हो, खेलना नहीं है क्या? खेल का नाम सुनते ही जीजी

से लेकर छोटी बहन तक चुपचाप दबे पाँव आ जातीं और फिर मैं मन ही मन ख़ुश होती कि चलो, आज एक सिरे से सबको भैंस की उपाधि से विभूषित कर दिया। मम्मी से शिकायत का डर था ही नहीं क्योंकि भण्डा फूटने पर वे भी लपेट में आ जातीं।

कभी मैं उठ कर जाती तो देखती लक्खो दादा फ़ुरसत से बैठे हैं। मुझे देखते ही बोल उठते—बिटिया, इतनी देर लगा दी, हम तो कब से तुम्हारी बाट जोह रहे हैं, अभी पैर फैलाने की सोच रहे थे यह जान कर कि हो न हो आज तुम भी सो गयीं।

और बस बिटिया रानी को रूठने का बहाना मिल जाता—क्यों सोचा दादा तुमने ऐसा। कुछ सोचा तो ग़ुस्सा, न सोचा तो ग़ुस्सा, और इसके पीछे गूढ़ रहस्य यह था कि बिटिया कोप-भवन से तब तक न निकलतीं जब तक कि दादा कोई एकदम से नया खेल न खिलाते। यही कारण था कि दादा की बिटिया मम्मी-पापा की नज़रों से बच कर, सभ्य समाज में न खेले जाने वाले गुल्ली-डण्डा, कंचे और पतंग उड़ाने जैसे कई खेलों में सिद्धहस्त और पारंगत हो गयी थीं।

और वे दिन तो सोने में सुहागा से प्रतीत होते जब लक्खो दादा की बेटी मुनिया अपनी माँ के साथ कलकत्ता आती। मुनिया क्या थी एक चलती-फिरती पाँच साल की गुड़िया। हमारे घर पर उसे इतना लाड़-प्यार मिलता कि एक दिन हँसी-हँसी में उसकी माँ ने मम्मी से कह दिया—इसे तो बीबी अपने पास ही रख लो।

बस, मैंने मन ही मन उसकी माँ की यह बात गाँठ बाँध ली, उस दिन से दिन-रात मम्मी की खोपड़ी खाने लगी कि मुनिया इतने साल अपनी माँ के पास रही है अब उसे लक्खो दादा के पास रहना चाहिये। माँ ने बहुतेरा समझाया कि पागल नहीं बनते, माँ के बिना यह ज़रा-सी बच्ची परेशान हो उठेगी, लेकिन जो अपनी ज़िद छोड़ दे वह मैं न हुई, उस समय तो शायद ब्रह्मा भी मुझे न डिगा पाते। बस मेरा अनशन शुरू हुआ। झक मार कर मुनिया की माँ को अकेले गाँव वापस जाना पड़ा।

दोपहर को जब मुनिया को पता लगा कि माँ बाज़ार नहीं गाँव वापस चली गयी हैं तो बस उसने रो-रो कर घर सिर पर उठा लिया। उसे चुप कराने की सौ फ़ीसदी ज़िम्मेदारी मुझ पर थी। पूरे दो घण्टों तक उसे मनाने

के लिए मैंने अपने दिमाग़ से अच्छी-ख़ासी कसरत करवा दी। उसके सामने अपने बढ़िया-से-बढ़िया खिलौनों की बारात लगा दी। मिठाइयों और टॉफ़ियों की सुनहरी पन्नियों की चमक से उसके आँसू सोखने की कोशिश की, लक्खो दादा से सीखे हर खेल का प्रस्ताव उसके सामने रखा लेकिन वह थी कि हिचकियाँ भर-भर कर गालों पर आँसू लुढ़काती रोये चली जा रही थी।

बाप रे बाप! बाल्टी भर आँसू तो रो चुकी होगी वह बित्ते भर की गुड़िया। मेरी सारी ज़िद तो कब की उन आँसुओं के सैलाब में बह चली थी और आख़िर हर तरह से लाचार मैं भी उसके साथ सुर में सुर मिला कर हिचकियाँ भरने लगी उसकी माँ के पास उसे वापस पहुँचाने के लिए।

न मालूम रोते-रोते कब हम दोनों को नींद की थपकियाँ अपने लोक ले गयीं लेकिन सवेरे जब मेरी आँख खुली तो लक्खो दादा मुनिया को ले जा चुके थे। उसके बाद तो मुनिया को देखा ही नहीं। कुछ ही दिनों के बाद पापा का तबादला हो गया और इस बार हमेशा की तरह लक्खो दादा हमारे साथ नहीं आ सके क्योंकि बैंक में उन्हें चौकीदारी का काम मिल गया था।

दादा के बिछोह के दुःख की रेखाएँ हमारे चेहरों पर कई दिनों तक छायी रहीं। "फिर मिलेंगे" का विश्वास दिल के किसी कोने में था, लेकिन यह "फिर" १५, १६ सालों के बाद ऐसे अवसर पर यूँ आयेगा यह तो कभी सपने में भी नहीं सोचा था...

शादी के घर में ख़ासी चहल-पहल का होना स्वाभाविक था। उत्सुकता की मारी मैं परिवार से छिटक, लक्खो दादा को चकमा देने के ख़याल से भीड़ में ख़ुद ही उन्हें ढूँढ़ने में लग गयी, लेकिन जब किसी भी चेहरे में उनका प्रतिबिम्ब नज़र नहीं आया तो हार कर किसी से पूछना ही पड़ा।

उस कमरे में घुसते ही दुल्हन के रूप में सजी मुनिया के उस अनिंद्य रूप ने मुझे चकाचौंध कर दिया। वे पलकें ज़रा-सी उठीं, धवल दन्त-पंक्ति की मुस्कुराहट ने उन नज़रों पर पहचान की मुहर लगा दी और अगले ही क्षण हम दोनों आलिंगनबद्ध थे।

दादा कहाँ हैं के प्रश्न पर मुनिया ने खटिया की ओर इशारा किया। 'दादा' कह कर दौड़ी, अगले ही क्षण पैर ठिठक गये। नहीं, नहीं, ये दादा

नहीं हैं, यह झुर्रियों-भरा चेहरा, यह सूख कर काँटा बना हुआ शरीर!! नहीं, नहीं। और तभी चिर-परिचित 'बिटिया' सम्बोधन! बचपन से देखती आयी उस मनमोहक मुस्कान की डोर ने बरबस मुझे खींच लिया। मैं दादा से लिपट गयी। आँसू थे कि थमना ही भूल गये। एक तरफ़ मुनिया के उस अपरूप रूप को देख कर मन का कोना-कोना खिल उठा, दूसरी ओर किसी समय मेरे दोस्तों में 'बजरंग बली' के नाम से मशहूर दादा की इस बेबस अवस्था, लकवे से सन्न पड़े हाथ को देख दिल पर हज़ार बिच्छुओं का डंक एक साथ लगा। जिन बाँहों के झूलों में मेरा सारा बचपन बीता उनकी यह हालत! हे भगवान्, तेरा काल-चक्र कितना दुःखदायी है!!!

आँसुओं के समन्दर के बीच मैं संक्षेप में इतना ही पकड़ पायी कि लक्खो दादा की पत्नी पाँच साल पहले स्वर्ग सिधार गयीं, माँ के जाने के बाद ज़िद्दी बेटी मुनिया किसी भी तरह बाबा को बेसहारा छोड़ अपने हाथ पीले करवाने को राज़ी न हुई। बाबा साथ चलें तभी वह घर बसायेगी और बाबा बेटी के घर का अन्न कैसे छू लें! लेकिन हार कर बाबा को घुटने टेकने पड़े तब कहीं जाकर मुनिया की बारात निकल पायी।

मेरा सारा शरीर रोमाञ्चित हो उठा। देहात की उस भोली-भाली दुल्हन के सामने सारे शब्द गूँगे हो गये। ख़ुशी से विह्वल बस उससे इतना ही कह पायी, "मुनिया, तूने जीवन की यह बाज़ी सचमुच बड़े भव्य रूप में जीत ली!!"

'पुरोधा', दिसम्बर २००२ से —वन्दना

सूचना

आश्रम की शारीरिक शिक्षण-पत्रिका 'बुलेटिन' (अंग्रेज़ी और फ्रेंच के साथ-साथ) पहले हिन्दी में भी छपा करती थी। अब पाठकगण इसे हिन्दी में On line पढ़ सकते हैं। यह साल में चार बार (चार दर्शन-दिवसों पर) प्रकाशित होती है। इसका link है—

https://www.sriaurobindoashram.org/journals/

Statement about ownership and other particulars about Newspaper (Agnishikha) to be published in the first issue every year after the last day of February.

Form IV (see Rule 8)

1. *Place of publication*	Sri Aurobindo Ashram Pondicherry - 605 002
2. *Periodicity of its publication*	Monthly
3. *Printer's Name*	Swadhin Chatterjee
Nationality	Indian
Address	Sri Aurobindo Ashram Press, Pondicherry-605 002
4. *Publisher's Name*	Pradeep Narang
Nationality	Indian
Address	Sri Aurobindo Society Pondicherry - 605 002
5. *Editor's Name*	Vandana
Nationality	Indian
Address	Sri Aurobindo Ashram Pondicherry - 605 002
6. *Names and Addresses of individuals who own the newspaper and partners or shareholders holding more than one per cent of the total capital*	Sri Aurobindo Society Pondicherry - 605 002

I, Pradeep Narang hereby declare that the particulars given above are true to the best of my knowledge and belief.

21 February 2019

sd/- (Pradeep Narang)
Chairman

उनकी कृपा का स्पर्श कठिनाई को सुयोग में, विफलता को सफलता में और दुर्बलता को अविचल बल में परिणत कर देता है। भगवती माँ की कृपा परमेश्वर की अनुमति है, आज हो या कल, उसका फल निश्चित है, पूर्वनिर्दिष्ट अवश्यंभावी और अनिवार्य है ।

– श्रीअरविन्द

अमरनाथ शिक्षण संस्थान, मथुरा (उ.प्र.)

फोन– 0565–3240006, 9358340375

Website : anvaschool.org, Email-amarnath.mtr1@rediffmail.com

Registered: PY/47/2018-20
RNI No.18135/70

Date of Publication: 1st March 2019
Rs. 15.00 (Monthly)

A school by The Vatika Group vatika

Nature Friendly

"My child is in Grade 4. My son's journey with this school started 5 years back.

What really drew me to the school at the first instance is the calmness that prevails in the atmosphere!

Being a doctor myself, it was very important for me that the school environment should be healthy – class rooms in MatriKiran are the most nature friendly, spacious, well ventilated, they open out to green spaces... perfect to stay in communion with nature."

Dr. Nidhi Gogia
Mother of Soham Sharma, Grade 4

ADMISSIONS OPEN
Academic Year 2018-19

ICSE Curriculum

MatriKiran
www.matrikiran.in

Junior School SOHNA ROAD
Pre Nursery to Grade 5

Senior School VATIKA INDIA NEXT
Grade 6 onwards

Junior School
W Block, Sec 49, Sohna Rd, Gurugram
+91 124 4938200, +91 9650690222

Senior School
Sec 83, Vatika India Next, Gurugram
+91 124 4681600, +91 9821786363